खण्ड 8
अवशिष्ट पदार्थ निरूपण

खण्ड 8 अवशिष्ट पदार्थ निरूपण

न्याय दर्शन के प्रवर्तक आचार्य गौतम हैं। उनके द्वारा विरचित न्यायसूत्र इस दर्शन का सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है।प्रमाणों के आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचना ही न्याय है। इस क्रम में हम यह भी जानते हैं जिन साधनों से हमें ज्ञेय तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हीं साधनों को न्याय की संज्ञा दी गई है। नन्दकिशोर देवराज ने न्याय को परिभाषित करते हुए कहा है कि **नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः।** इसे तर्कशास्त्र,प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, वादविद्या तथा अन्वीक्षिकी भी कहा जाता है।

वात्स्यायन ने न्याय का लक्षण देते हुए कहा है कि **प्रमाणैर्थपरीक्षणं न्यायः** अर्थात् प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण ही न्याय है। इस दृष्टि से जब कोई मनुष्य किसी विषय में कोई सिद्धान्त स्थिर करता है तो वहाँ न्याय (Logic) की सहायता अपेक्षित होती है।

न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक परिज्ञान के बिना किसी भी शास्त्र को समझ पाना कठिन है,चाहे वह व्याकरण,काव्य,अलंकार,आयुर्वेद,धर्मग्रन्थ हो या दर्शनग्रन्थ। न्यायशास्त्र वस्तुतः बुद्धि को सुपरिष्कृत,तीव्र और विशद बनाने वाला शास्त्र है। न्यायदर्शन में पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस् की सिद्धि बतायी गयी है। इस तत्त्वज्ञान तक पहुँचने का माध्यम इनके द्वारा प्रवर्तित पदार्थों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। न्यायदर्शन में प्रमाणआदि षोडश पदार्थ माने गये हैं।ये पदार्थ हैं- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, बाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान।

प्रस्तुत अवशिष्ट पदार्थ निरूपण खण्ड में अंतिम के चौदह पदार्थों का विश्लेषण किया गया है। ये पदार्थ ही वस्तुत: वाद की समस्त विधि की व्यवस्था प्रवर्तित करते हैं। जागतिक वस्तुओं को समझने के लिये इन पदार्थों का जानना बहुत ही आवश्यक है।

छात्रों की सुविधा के लिये खण्ड आठ की इकाई 28 में संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त और अवयव का परिचय प्रस्तुत किया गया है। खण्ड आठ की इकाई 28 में तर्क, निर्णय, बाद, जल्प तथा वितण्डा का विश्लेषण किया गए है तथा इसकी अन्तिम इकाई 30 में हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान का निरूपण किया गया है।

इकाई 28 संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त (1.1.23-1.1.25) सिद्धान्त और अवयव (1.1.26-1.1.39)

28.0 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप जान पाएंगे कि-

- संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त एवं अवयव के स्वरूप क्या हैं?
- इन पदार्थों के विविध प्रकारों की अवधारणा क्या है?

- ये पदार्थ किस प्रकार विषयों को समझने की दृष्टि देते हैं?
- अवयवों की सार्थकता क्या है?
- ये पदार्थ क्या परस्पर कोई समानता भी रखते हैं?
- अवयव किस प्रकार स्वयं में सारे प्रमाणों को समाहित किए हुए हैं?

28.1 प्रस्तावना

न्यायदर्शन के षोडश पदार्थों में प्रमाण एवं प्रमेय के अन्तर्गत हम संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त एवं अवयव का उल्लेख पाते हैं। प्रस्तुत पाठ का यही प्रतिपाद्य भी है। इसके अन्तर्गत इसका क्रमश: विश्लेषण किया गया है। न्याय दर्शन यह प्रतिपादित करता है कि षोडश पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस दृष्टि से उक्त पदार्थों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

इस पाठ के अन्तर्गत इन्हीं पदार्थों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। वस्तुत: इस विशिष्ट दर्शन की वस्तुओं को देखने की दृष्टि, अन्य वैदिक दर्शनों से भिन्न है। यह जागतिक वस्तुओं के विश्लेषण के अनन्तर पारलौकिक परम के प्राप्त होने के मार्ग को बताता है। इस ज्ञान प्राप्ति में प्राप्त होने वाले संशय सदृश विषयों का विश्लेषण करते हुए यह भी बताने का प्रयास करता है कि ऐसी समस्याओं का समाधान कैसे किया जा सकता है अथवा उनके क्या क्या मार्ग हो सकते हैं। एतदर्थ वे अवयवों की अवधारणा, सिद्धान्त, दृष्टान्त आदि का विश्लेषण करते हैं। न्याय दर्शन ने संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त तथा अवयव को भी पदार्थ माना है।

आशा है इस पाठ में इन विषयों को समझते हुए आप भली-भाँति अन्य विषयों से उनके सम्बन्ध को समझ पाएंगे।

28.2 संशय

न्याय दर्शन में वर्णित प्रमाण एवं प्रमेय पदार्थों के विवरण के पश्चात् यहाँ सोलह पदार्थों में से तृतीय **संशय** नामक पदार्थ का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वस्तुत: संशय एक ऐसी अवस्था है जिसमें मन दो वस्तुओं के मध्य अनिश्चय की स्थिति में रहता है। इसे इस तरह समझा जा सकता है कि दो परस्पर विरोधी धर्म का एक साथ एक ही पदार्थ अर्थात् धर्मी में समझ लेना तथा किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाना कि वह पदार्थ वास्तव में है क्या, संशय है। इसका निश्चयात्मक ज्ञान आपको नहीं है। इस अवस्था में मन एक ही धर्मी (पदार्थ) में अनेक परस्पर विरोधी (विरुद्धकोटिक) धर्म आरोपित करता है। यही करण है किसंशय का लक्षण नैयायिक इस प्रकार करते हैं कि **एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानं संशय**:अर्थात् एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधी अनेक प्रकार का ज्ञान होना संशय है। जैसे-दूर से लटकने वाली रस्सी को अनिश्चय की ऐसी स्थिति उत्पन्न होना कि यह सर्प है या रज्जु, इसप्रकार की बुद्धि संशय है। संशयावस्था में किसी कोटि का निश्चय नहीं हो पाता-**अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशय**ः।

जिस प्रकार झूला हिल डुल के बिना स्थित नहीं रहता किन्तु दो दिशाओं में झूलता रहता है, उसी प्रकार संशययुक्त ज्ञान **अस्ति** और **नास्ति** इन दो कोटियों के बीच में झूलता रहता है। चित्त की इस दोलायमान अवस्था का ही नाम **संशय** है। गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति में

संशय लक्षण इसी प्रकार किया है- **दोलायमाना प्रतीतिः संशयः।**

28.2.1 संशय के प्रभेद

संशय के सम्बन्ध में गौतम ने संशय का प्रत्यक्ष लक्षण न करते हुए इसके भेदों का निरूपण किया है-**समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः**(न्या०सू० 1.1.23)।

इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने पाँच प्रकार के संशयों का निर्देशहै, तद्यथा-

(क) **समानधर्मोपपत्तिमूलक**- संशय के भेदों में यह पहला भेद है। उनमें से विशेष का दर्शन न होने पर, समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न होने वाला प्रथम प्रकार का संशय होता है। जैसेयह शंका कि दूरवर्ती पदार्थ मनुष्य है अथवा स्थाणु (सूखा पेड़)?हमारे सामने उपस्थित एक ही वस्तु/व्यक्ति में स्थाणुत्व का निश्चय कराने वाला वक्र कोटर अर्थात् टेढ़ा मेढ़ा पेड़ आदि और पुरुष होने का निश्चय कराने वाले सिर, हाथ आदि, विशेष को न देख पाने वाले व्यक्ति को स्थाणु और पुरुष की ऊँचाई आदि के समान धर्म को देखते हुए, इसप्रकार का संदेह (संशय) उत्पन्न होता है कि क्या यह स्थाणु है अथवा पुरुष है?वस्तुत: एक ही वस्तु में दो समान धर्मों की प्रतीति होना ही संशय है। यहाँ यह सन्देह उस आकारविशेष के कारण उत्पन्न हुआ है जो मनुष्य और स्थाणु दोनों का समान धर्म या उभयनिष्ठ धर्म है। समान धर्म होने के कारण यह संशय समान धर्मोपपत्तिमूलक है।

(ख) **अनेक धर्मोपपत्तिमूलक**- इस द्वितीय संशय की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब सन्देह की दोनों वस्तुओं में समानता नहीं होती। जैसे यह कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य?यहाँ यह सन्देह इस कारण उत्पन्न होता है कि परमाणु आदि नित्य पदार्थ और घट आदि अनित्य पदार्थ,इन दोनों में एक की भी शब्द के साथ समानधर्मता नहीं देखी जाती है। इसलिये यह संशय अनेक धर्मोपपत्ति मूलक है।

(ग) **विप्रतिपत्तिमूलक-** विप्रतिपत्ति का अर्थ है विरोध। इस प्रकार ऐसा संशय जिसमें एक ही विषय के अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त प्राप्त हो, वहाँ विप्रतिपत्तिमूलक संशय होता है। विशेष का दर्शन होने की स्थिति में विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वचनों से उत्पन्न होता है। जैसे- यह संशय कि शब्द नित्य है या अनित्य? इसलिए उन दोनों व्यक्तियों के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वचनों द्वारा, विशेष का दर्शन न होने के कारण, मध्य में स्थित व्यक्ति को यह संशय होता है कि क्या शब्द नित्य होता है अथवा अनित्य होता है?मीमांसा शब्द को नित्य मानती है जब कि कुछ विरोधी दर्शन अनित्य। इस प्रकार विरोध होने के करण यह संशय विप्रपत्ति मूलक है।

(घ) उपलब्ध्यवस्थामूलक- यहाँ उपलब्धि का अर्थ है प्राप्त होना। हमें अपने इन्द्रियों से सत् एवं असत् दोनों पदार्थों की उपलब्धि होती है। जैसे- सरोवर स्थित जल जो उस क्षण सत् है तो मृगमारीचिका में जल। उपलब्धि की इसी अव्यवस्था से यह संशय उत्पन्न होता है कि सामने जिस जल की प्रतीति हो रही है वह सत्य है अथवा असत्य। इसीलिए ऐसे संशय को उपलब्धिमूलक कहा जाता है।

(ङ) **अनुपलब्ध्यवस्थामूलक-** इस संशय को इस प्रकार समझ जा सकता है। लोकपरम्परा से यह सुना जाता है कि गाँव के बाहर के किसी बरगद के पेड़ पर भूत रहता है। यह सुनकर

आप यह देखने के लिये उस बरगद के पेड़ के पास जाते हैं। किन्तु वहाँ कोई भूत दिखाई नहीं देता। उसके पश्चात् यह सन्देह उत्पन्न होता है कि भूत कहीं गायब होने के कारण दिखायी नहीं दे रहा है अथवा वह पेड़ पर रहता ही नहीं? इस प्रकार भूत या भूतप्रकार की अव्यवस्था होने के कारण अनुपलब्धि अव्यवस्था मूलक संशय होता है।

28.3 प्रयोजन

न्याय दर्शन के षोडश पदार्थों में में चतुर्थ पदार्थ प्रयोजन है। प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए न्यायसूत्रकार कहते हैं कि **यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्** (1.1.24) अर्थात् जिस विषय को अधिकृत करके किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं वह प्रयोजन है। सामान्य नियम भी है कि हम बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त होते नहीं। यह लोक प्रसिद्ध कथन है कि बिना प्रयोजन के किसी कार्य में मूर्ख की भी प्रवृत्ति नहीं होती- **प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते**।

अन्यत्र इससे स्पष्ट करते हुए इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है- **प्रयोजनम् येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्**। जिसे उद्देश्य करके व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन होता है और वह सुख की प्राप्ति और दुःख की हानि के लिए ही होता है, क्योंकि इस संसार में सभी की प्रवृत्ति का प्रयोजन सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश करना ही है।

यह प्रयोजन दो प्रकार का है- **दृष्ट** एवं **अदृष्ट**। इनमें इस लोक में दिखने वाला प्रयोजन दृष्ट कहलाता है। जैसे- बीज बोने का प्रयोजन है फल या अन्न प्राप्त करना। इसी प्रकार यज्ञादि का प्रयोजन है स्वर्ग आदि की प्राप्ति। इसका प्रत्यक्ष इस लोक में नहीं होता है। इसलिए यह प्रयोजन अदृष्ट है। इन दोनों प्रकार के प्रयोजनों को क्रमशः लौकिक एवं अलौकिक भी कहा जाता है।

28.4 दृष्टान्त

न्याय दर्शन के षोडश पदार्थों में पञ्चम पदार्थ दृष्टान्त है।दृष्टान्त का शब्दपरक अर्थ है जिसको देखने या जान लेने से किसी कथन का निश्चय हो जाय,उसे 'दृष्टान्त'कहते हैं, यथा-**दृष्टोऽन्तो निश्चयो येन स दृष्टान्तः**।

गौतम के अनुसार दृष्टान्त वह विषय है जिस विषय में लौकिक और परीक्षक दोनों का एक मत हो,वह दृष्टान्त कहलाता है-**लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः**।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि लौकिक व्यक्ति साधारण बुद्धि के अनुसार विषय को जैसा देखता है,वैसा ही मान लेता है। किन्तु परीक्षक तर्क-प्रमाणादि द्वारा उसकी अच्छी तरह परीक्षण कर तत्त्वों का यथायोग्य अनुसन्धान करता है। इस प्रकार लौकिक और परीक्षक के दृष्टिकोण अलग अलग होते हैं। किन्तु दृष्टान्त को लौकिक एवं परीक्षक दोनों ही मानते है। उस विषय में किसी का मतभेद नहीं पाया जाता। इस सन्दर्भ में विषय की स्थापना के लिये भाष्यकार कहते हैं कि **यत्र लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यतेस दृष्टान्तः**।

इस सन्दर्भ में भाष्यकार केवल प्रत्यक्ष पदार्थों को ही दृष्टान्त रूप मे लेने की स्वीकृति दी है- **अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः**। न्यायसूत्रों में आत्मा, बुद्धि आदि विभिन्न विषय दृष्टान्त रूप में लिये गये हैं।

इसी को यदि तर्कभाषाकार के अनुसार हम समझते हैं तो वेवादी और प्रतिवादी दोनों व्यक्तियों की सहमति का विषयरूप अर्थ को दृष्टान्त कहते हैं- **दृष्टान्तः वादिप्रतिवादिनोः**

संप्रतिपत्तिविषयोऽथ दृष्टान्तः।

न्यायसूत्र में दृष्टान्त के भेदों के ऊपर परिचर्चा प्राप्त नहीं होती किन्तु परवर्ती न्याय परम्परा में इसके दो भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है- **स द्विविधः। एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमत्वस्य महानसम् द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः यथा तस्यैव हेतोः महाह्रदः इति।**इस प्रकार ये दोनों दृष्टान्त-साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्त नां से जाने जाते हैं।

इनमें प्रथम, साधर्म्य दृष्टान्त है, जैसे धूमयुक्त हेतु का दृष्टान्त महानस (पाकशाला) है। द्वितीय वैधर्म्य दृष्टान्त है, जैसे उसी धूमवत्त्व हेतु में (व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त) महासरोवर है। ये दोनों भेद न्याय के ही अन्वय एवं व्यतिरेक सिद्धान्त पर आधारित हैं। अन्वय का उदाहरण साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है। जैसे, पाकशाला में धूम और अग्नि का साहचर्य भाव। यह साधर्म्य दृष्टान्त है। व्यतिरेक का उदाहरण वैधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है। जैसे, जलाशय में धूम और अग्नि दोनों का अभाव है। यह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

बाद मे सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य ने इसे शास्त्रीय स्वरूप देते हुए कहा है कि व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान जिसके आधार पर होता है वही दृष्टान्तहै-**व्याप्तिसंवेदनभूमिः दृष्टान्तः**। जैसे,धूम और अग्नि में जो व्याप्ति-सम्बन्ध है। अब प्रश्न उठता है कि वह सम्बन्ध कैसे जाना जाता है?तो उत्तर है कि दोनों का साहचर्य देखने से। पुन: यह शंका भी उत्पन्न होती है कि यह साहचर्य कहाँ कहाँ पाया जाता है? तो इसका समाधान है रसोई घर इत्यादि में। ऐसे ही ऐसे स्थान उस व्याप्ति के आधार स्थल हैं। अतःये दृष्टान्त या उदाहरण कहे जाते हैं।

28.5 सिद्धान्त

न्याय दर्शन का षष्ठ पदार्थ सिद्धान्त है। यहाँ सिद्धान्त से तात्पर्य है किसी पदार्थ के विषय में सामान्य अथवा विशेष रूप से जो कुछ कहा जाए उसे मान लेना या उसका प्रतिपादन करना। गौतम ने सिद्धान्त का कोई विशिष्ट लक्षण नहीं दिया है। पुनरपि यहाँ सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

केशव मिश्र के अनुसार-**प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः** अर्थात् प्रामाणिक रूप से माना गया अर्थ ही सिद्धान्त नामक प्रमेय पदार्थ है। इसी को इस प्रकार समझा जा सकता है कि कोई विषय प्रमाण द्वारा सिद्ध या स्थापित हो जाने पर सिद्धान्त बन जाता है- **सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्ताः**।

यहाँ गौतम ने सूत्र के द्वारा उनके भेदों का उल्लेख क्या है। तदनुसार- **तन्त्राधिकरणाभ्युपगमस्थितिःसिद्धान्तः**अर्थात् तन्त्र,अधिकरण या अभ्युपगम के सहारे ही सिद्धान्त स्थापित होता है। यह सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम सिद्धान्त भेद से चार प्रकार का होता है।

28.5.1 सर्वतन्त्रसिद्धान्त

सर्वतन्त्र सिद्धान्त जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है सभी तन्त्र अर्थात् शास्त्रों के विरुद्ध न जाने वाला या सारे संप्रदायों के द्वारा स्वीकृत जो अर्थ शास्त्र में स्वीकार कर लिया जाए उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। जैसे घ्राण आदि इन्द्रियाँ हैं तथा गन्ध आदि उन इन्द्रियों के विषय हैं, इस तथ्य को सभी शास्त्रों के द्वारा स्वीकार किया गया है। इसलिए यह सिद्धान्त सर्वतन्त्र हुआ।

न्यायसूत्र में गौतम इसका लक्षण देते हुए स्पष्ट करते हैं कि **सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रोऽधिक्कृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः**(न्या० सू०1.1.28)।यहाँतन्त्रशब्द का अर्थ है शास्त्र। इसलिये सर्वतन्त्र सिद्धान्त का अर्थ हुआ सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त। जिस सिद्धान्त को सभी मानते हों,जिसके विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हो,वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। जैसे,इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्राह्य होता है। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।इसी प्रकार शब्द आदि धर्मी की सत्ता को भी सभी शास्त्रों में मान्यता प्रदान की गई है। उसके नित्य, अनित्य होने में विवाद (मतभेद) हो सकता है किन्तु शब्दविषयक कतिपय मान्यताओं में साम्य होने के कारण इसे सर्वस्वीकृत सिद्धान्त के अन्तर्गत माना जाता है।

इस सन्दर्भ में यह समझना भी आवश्यक है कि दृष्टान्त एवं सर्वतन्त्र सिद्धान्त में भेद है। कारण यह कि दृष्टान्त का निश्चय वादी एवं प्रतिवादी करता है क्योंकि इसका उपयोग पक्ष एवं प्रतिपक्ष द्वारा शब्दार्थ में होता है। सर्वतन्त्र सिद्धान्त का निश्चय सभी दार्शनिकों का हुआ करता है। इन दोनों में भेद का दूसरा कारण यह भी है कि दृष्टान्त की सहायता से अनुमान एवं आगम प्रमाण के द्वारा शास्त्र की सिद्धि की जाती है, किन्तु यह स्थिति सर्वतन्त्र सिद्धान्त में नहीं होती।

28.5.2 प्रतितन्त्र सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का शास्त्र में निरूपण नहीं होता है तथा यह पर (प्रतिपक्षी) के शास्त्र (तन्त्र) में भी असिद्ध है, किन्तु समानतन्त्र में इसकी प्रसिद्धि होती है। इसी को प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे-**यथा नैयायिकस्य मते मनसः इन्द्रियत्वम्। तदद्धि समानतन्त्रे वैशेषिके सिद्धम्।** न्यायशास्त्र में मन की इन्द्रियों में गणना नहीं की गई है तथा पर तन्त्र अर्थात् वेदान्तआदि इसे इन्द्रिय स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु न्याय का समान वैशेषिकशास्त्र इस मन को इन्द्रिय के रूप में मान्यता प्रदान करता है। इसलिए न्यायशास्त्र के लिए मन के इन्द्रिय होने का सिद्धान्त प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहा जाएगा। ध्यातव्य है कि न्याय एवं वैशेषिक एक दूसरे के पूरक होने के कारण समानतन्त्र कहलाता है।

न्यायसूत्र में प्रतितन्त्र सिद्धान्त का लक्षण इस प्रकार किया गया है- **समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः**(1.1.26)। इस प्रकार जो सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं हो, जिसको कुछ ही शास्त्र मानें तथा कुछ शास्त्र नहीं मानें,वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहलाता है। जैसे,शब्दानित्यत्ववाद (अर्थात् शब्द अनित्य है)। यह नैयायिकों का सिद्धान्त है, किन्तु मीमांसक इसे नहीं मानते। अतः यह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।

28.5.3 अधिकरण सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को इस प्रकार समझा जा सकता है कि जिसकी सिद्धि होने पर अन्य प्रकरण की सिद्धि स्वतः ही हो जाती है। जैसे- **क्षित्यादिकर्तृत्व सिद्ध कर्तुः सर्वज्ञत्वम् क्षितिः** आदि का कर्ता सिद्ध होने के बाद ही उस कर्ता की सर्वज्ञता की सिद्धि को मानना अर्थात् पृथिवी आदि के कर्ता ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर उसकी सर्वज्ञता आदि स्वतः ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि सर्वज्ञ ही पृथिवी आदि का सृष्टिकर्ता हो सकता है।

इस सन्दर्भ में गौतम का अभिमत है कि **यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः**(न्या० सू० 1.1.27) अर्थात् जिस सिद्धान्त को मान लेने पर कतिपय अधीनस्थ विषयान्तर भी अपने आप ही स्वीकृत हो जाते हैं,उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। जैसे पुनर्जन्मवाद मानने पर आत्मा का अस्तित्व और उसका शरीर से पार्थक्य अपने आप ही

प्रतिपन्न हो जाता है। इसी को भाष्यकार इस प्रकार समझाते हैं कि जिस सिद्धान्त के सिद्ध होने पर ही अन्य प्रस्तुत मत कि किसी विषय के देखने या छूने में कर्ता एक ही होता है अत: आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है' इस प्रस्तुत निर्णय स्थल में कई इन्द्रियों का होना अधिकरण सिद्धान्त है।

28.5.4 अभ्युपगम सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी वस्तु/व्यक्ति की परीक्षा करने के लिए किसी अप्रामाणिक अर्थात् परीक्षित अर्थ को भी स्वीकार कर लेते हैं। जैसे मीमांसा और न्याय दोनों दर्शनों में 'शब्द की नित्यता' और 'अनित्यता' को लेकर पर्याप्त मतभेद है। मीमांसक शब्द को द्रव्य मानता है, किन्तु इस तथ्य की परीक्षा करने के लिए वह बिना प्रमाण के ही यह स्वीकार कर लेता है कि- ठीक है, ठीक है, हम थोड़ी देर के लिए शब्द को गुण ही मान लेते हैं। इसे मीमांसक का अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाएगा।

इसी उद्देश्य से आचार्य गौतम अभ्युपगम सिद्धान्त को इस प्रकार परिभाषित करता है- **अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणम् अभ्युपगमसिद्धान्तः** न्या० सू० 1.1.31। अर्थात् किसी अपरीक्षित वस्तु को विचारार्थ थोड़ी देर के लिये स्वीकार कर लेना अभ्युपगमकहलाता है। पुनः परीक्षा के बाद जिस सिद्धान्त पर पहुँचा जाता है,वह अभ्युपगम सिद्धान्तकहलाता है। जैसे जैमिनी के द्वारा प्रवर्तित नित्यानित्य विचार।**यथा जैमिनीयस्य नित्यानित्यविचारो, यथा भवतु, अस्तु तावच्छब्दो गुण इति** जिसके द्वारा शब्द की नित्यता और अनित्यता का विचार किया जा सके, इसलिए मीमांसकों का यह स्वीकार करना कि अच्छा ठीक है चलो मान लेते हैं कि 'शब्द गुण है।'

सिद्धान्त नामक इस पष्ठ प्रमेय पदार्थ की परिभाषा में यहअभिप्राय निहित है कि जिस मन्तव्य को वादी और प्रतिवादी के द्वारा प्रामाणिक रूपमें स्वीकार कर लिया जाता है, उसे ही सिद्धान्त कहते हैं।

28.6 अवयव

अब अवयव नामक सप्तम पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है। परार्थानुमान के भिन्न-भिन्न अंग-वाक्य अवयवकहलाते हैं-**परार्थानुमानवाक्यैकदेशः अवयवः**(न्यायशास्त्र में) परार्थानुमान वाक्य के अंश (एकदेश) ही अवयव कहलाते हैं। न्याय सूत्र में इसकी संख्या पाँच बतलायी गई है।ये अवयव हैं-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन- **प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यावयवाः**।

1. प्रतिज्ञा
2. हेतु
3. उदाहरण
4. उपनय तथा
5. निगमन

28.6.1 अवयव के अभिप्राय

न्याय का सर्वाधिक विवेच्य विषय अनुमान है। यह अनुमान दो अभिप्रायों से किया जाता है- प्रथम **स्वनिश्चितार्थ** अर्थात् अपने ज्ञान के लिये तथा द्वितीय **परबोधनार्थ** अर्थात् दूसरों को

समझाने के लिये। इनमें पहले को **स्वार्थानुमान** और दूसरे को **परार्थानुमान** कहते हैं। स्वार्थानुमान स्व ज्ञानात्मक होता है,अतएव उसके लिये केवल तीन ही अवयव पर्याप्त हैं।ये हैं- प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण। किन्तु परार्थानुमान पर ज्ञानात्मक होता है, इसलिए इसमें पाँचों अवयवों का होना आवश्यक है। ये हैं-

प्रतिज्ञा- पर्वतो वह्निमान्

हेतु- धूमवत्वात्

उदाहरण- यथा महानसम्

उपनय- यो यो धूमवान् स सो वह्निमान् तस्मात् तथा

निगमन- तथा चायम्

यहाँ व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान से ही साध्य की स्वानुमिति (Cognition)हो जाती है अर्थात् अपने मन में निश्चय हो जाता है। किन्तु परार्थानुमान शब्दात्मक होता है। अतएव परानुमिति के लिये (दूसरे के मन में निश्चय कराने के लिये) शब्दरूपत्व होना आवश्यक है। केवल अर्थरूपत्व से काम नहीं चल सकता। इसीलिये पाँचों अवयवप्रयोग में लाये जाते हैं। इनमें प्रत्येक सार्थक हैं और अपना-अपना कार्य करता है। इन पांचों अवयवों को इस प्रकार समझा जा सकता है-

1. **प्रतिज्ञा-** न्यायसूत्र के अनुसार इन अवयवों में साध्य-धर्मविशिष्ट पक्ष का कथन करने वाला वाक्य प्रतिज्ञा हैं, जैसे यह पर्वत अग्नि वाला है- **तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादक वचनं प्रतिज्ञा, यथा- पर्वतोऽयंवह्निमानिति**। दूसरे शब्दों में, जिस कथन को हमें सिद्ध करना है उसका निर्देश करना ही प्रतिज्ञा है। इसलिए प्रतिज्ञा का लक्षण **साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा** भी किया जाता है।

2. **हेतु-** उदाहरण के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के द्वारा जो साध्य के सिद्ध होने का साधन होता है, उसे हेतु कहते हैं। सूत्र के अनुसार हेतु का लक्षण इस प्रकार है- **'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः', 'तथा वैधर्म्यात्'** (1.1.34-35)। इस प्रकार इस हेतु के भी दो भेद माने जाते है- साधर्म्य एवं वैधर्म्य। तर्कभाषाकार इसे अत्यन्त सरलता से समझते हुए कहते है कि **तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतु**ः। यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्त्वादिति वा। अर्थात्तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति से युक्त धूम आदि लिङ्ग का प्रतिपादन करने वाला वाक्य हेतु होता है, जैसे धूमवत्त्वेन (तृतीया विभक्ति) धूमवत्त्वात् (पञ्चम्यन्त पद) (धूम वाला होने से)।

3. **उदाहरण-** पञ्चावयव वाक्य का यह तृतीय अवयव है। सामान्यतया व्याप्ति के साथ दृष्टान्त को कहना ही उदाहरण नामक अवयव है। जैसे- जो जो धूमवान् होता है, वह वह अग्निमान् होता है, जैसे रसोईघर (महानस) इत्यादि। **सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्, यथा यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति**। इसे इस प्रकार भी कहा जाता है कि जिस वाक्य से हेतु में साध्य की व्याप्ति बताई जाए उसे उदाहरण कहा जाता है।

   न्यायसूत्र में हेतु की तरह ही उदाहरण के दो भेद प्राप्त होते हैं-साधर्म्य एवं वैधर्म्य उदाहरण। सूत्र के अनुसार **साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्** एवं **तद्विपर्याद्विपरीतम्** (1.1.36-37)।

4. **उपनय-** जिस वाक्य से पक्ष में साध्यवाक्य हेतु का सम्बन्ध बोधित हो उसे उपनय कहते हैं। तर्कभाषा में इस प्रकार कहा गए है कि**पक्षे लिङ्गोपसंहारवचनमुपनयः यथा वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमिति** अर्थात्पक्ष में लिङ्ग का उपसंहार करने वाला वचन 'उपनय' होता है, जैसे यह पर्वत भी वह्नि व्याप्य धूमवान् है।

   उपनय द्वारा उदाहरण एवं साध्य की समानधर्मता को दृढ किया जाता है अर्थात् उदाहरण एवं साध्य को उपनय के द्वारा ही एक सूत्र में बाँधा जाता है।

5. **निगमन-** यह न्याय वाक्य का अन्तिम अवयव है। इसका शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार दिया जाता है- जिस वाक्य के हेतु का अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व बताते हुए हेतु के सामर्थ्य से पक्ष में साध्य के संबंध का उपसंहार किया जाए उसे "निगमन" कहा जाता है। गौतम के अनुसार हेतु का निर्देश करके प्रतिज्ञा का पुनर्वचन करना ही निगमन होता है। दूसरी ओर पक्ष में साध्य का उपसंहार करने वाला वाक्य ही निगमन नामकअवयव है, जैसे इस कारण यह पर्वत अग्नि वाला है अथवा इसलिए यह भी वैसा (अग्निमान्) से अग्नि वाला है। तथा चायमिति वा पक्षे **साध्योपसंहारवचनं निगमनम्। यथा तस्मादग्निमान् इति तस्मात्तथेति वा।**

यह निगमन प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण एवं उपनय को एक सूत्र में बाँधता है। भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार निगमन में चारों प्रमाण एकत्र सम्बद्ध रहते हैं।इसी पञ्चावयवात्मक वाक्य को वात्स्यायन ने **परम न्याय** कहा है।पंचावयव के पक्ष में वे एक विलक्षण तर्क देते हैं। उनका कहना है कि पंचावयव में चारों प्रमाण आ जाते हैं-**आगमः प्रतिज्ञा। हेतुरनुमानम्। उदाहरणं प्रत्यक्षम्। उपनयनमुपमानम्। सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति।**

इस तरह चारों प्रकार के प्रमाण आ गये। इस प्रमाण-चतुष्टय का सम्मेलन होने से जो फल (निष्कर्ष) निकलता है,वही निगमन कहलाता है इसलिये निगमन को परम न्याय (अन्तिम निष्पत्ति) कहते हैं।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि प्रतिज्ञा आदि ये पाँचों ही अनुमान वाक्य के अवयव (अङ्ग) के समान होते हैं। इसलिए इन्हें यहाँ अवयव कहा गया है। वस्तुतः इन्हें अनुमान वाक्य का अवयव रूप में समवायी कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ये आकाश में समवाय सम्बन्ध से स्थित शब्द के समान वाक्य में समवेत नहीं होते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने अनुमान वाक्य में प्रयुक्त प्रतिज्ञा आदि पञ्च वाक्य को ही अवयव रूप में प्रमेय पदार्थ माना है। जबकि पट आदि में स्थित तन्तु आदि भी पट के अवयव कहे जाते हैं। कहीं अनुमान वाक्य के प्रतिज्ञा आदि अवयव की पट आदि के अवयव तन्तु आदि में अतिव्याप्ति न हो जाए, इसके लिए ग्रन्थकार ने यहाँ स्पष्ट किया है कि प्रतिज्ञा आदि परार्थानुमान के अवयव ही न्यायशास्त्र के सप्तम प्रमेय पदार्थ के रूप में अभिहित हैं, पट के अवयव तन्तु जो पट के समवायी कारण है, वे इन अवयवों से सर्वथा भिन्न हैं।

दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार तन्तु आदि अवयव, अवयवी पट के एक देश अर्थात् अंश में रहते हैं। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त पञ्च अवयवरूप वाक्य भी अनुमान वाक्य के एक देश में विद्यमान होते हैं। इसीलिए इन्हें यहाँ अवयव संज्ञा से अभिहित किया गया है।

28.6.3 अवयवों की सार्थकता

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इन अवयवों की सार्थकता या उपयोगिता क्या है? साथ ही ये परस्पर पृथक् कैसे हैं? इन अवयवों का पार्थक्य और प्रत्येक की सार्थकता तर्कसंग्रह दीपिका में अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक बतलाई गई है। वे इस प्रकार हैं-

प्रतिज्ञा और निगमन- ये दोनों वस्तुतः एक नहीं हैं। प्रतिज्ञा प्रतिपाद्य विषय का कथनमात्र है। जबकि निगमन प्रतिपाद्य विषय का सिद्ध करना है। तदनुसार **साध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा।हेतुसाध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं निगमनम्।**प्रतिज्ञात अर्थ जब हेतु के द्वारा सिद्ध होकर प्रमाणित हो जाता है तभी निगमन कहलाता है, अन्यथा नहीं।

प्रतिज्ञा का प्रयोजन यह है कि प्रतिपक्षी और श्रोता सब समझ जाये कि प्रतिपादन का विषय क्या है। यदि वक्ता एकाएक हेतु वा उदाहरण से कथा का उपन्यास (प्रारम्भ) कर दे तो यह बोध ही नहीं हो पाएगा कि वक्ता का अभिप्राय क्या है अथवा यह क्या कहने जा रहा है,इसका निहितार्थ क्या है। इसीलिये वक्ता पहले ही अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है कि मैं यह सिद्ध करना चाहता हूँ।

निगमन का प्रयोजन यह दिखलाना है कि आप अपने अभीष्ट साध्य पर पहुँच गये,अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध कर चुके। यदि आप प्रतिज्ञा कर विषयान्तर हो जाएँ तो कैसे पता चलेगा कि आपने अपना प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित किया या नहीं। इसलिये अनुमान को आदि में प्रतिज्ञा और अन्त में निगमन से सम्पुटित कर दिया जाता है। प्रतिज्ञा प्रतिपाद्य विषय का निर्धारण करती है;निगमन उसकी सिद्धि को प्रकाशित करता है। अतएव प्रतिज्ञा और निगमन,दोनों का अपना-अपना अलग स्थान और महत्व है। बाह्यरूप के सादृश्य से दोनों को एक समझना भूल है।

हेतु और उपनय में भी भेद है। हेतु केवल यह कहता है कि पक्ष में लिंग की स्थिति है। उपनय यह बतलाता है कि पक्ष में व्याप्तिविशिष्ट लिंग कीस्थिति है- **व्याप्तिविशिष्टलिंगप्रतिपादकवचनमुपनयः**- तर्कसंग्रह दीपिका

हेतु से केवल पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। उपनय से व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान (परामर्श) प्राप्त होता है। हेतु के द्वारा आप यह स्पष्ट करते हैं कि "मैं यथोचित कारण देकर अपनी प्रतिज्ञा सिद्ध करता हूँ।" उपनय के द्वारा आप यह बतलाते हैं कि उस कारण का व्यापार (कार्य) ऐसा होता है। अतएव हेतु और उपनय दोनों भिन्न-भिन्न अवयव हैं और दोनों की अपनी-अपनी जगह में आवश्यकता है।

28.7 सारांश

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत आपने संशय के साथ प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त एवं अवयव के विषय में विस्तार से जाना।ये पाँचों पदार्थ वाद की प्रविधि के आधार का निर्माण करते हैं।

इसमें आपने संशय के विषय में यह जाना कि यह किसी दृष्ट वस्तु के विषय में सन्देह उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में हमारे कम से कम दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं जो निश्चयात्मक नहीं होते। यह संशय पाँच प्रकार का होता है। इसके अनन्तर प्रयोजन को आपने जाना। प्रयोजन वह पदार्थ होता है जिसे उद्देश्य करके व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन होता है। प्रयोजन न हो तो सिद्धान्त की आवश्यकता ही न पड़े। जबकि दृष्टान्त उदाहरणरूप ही होता है। यह वह विषय है

जिस विषय में लौकिक और परीक्षक दोनों का एक मत हो अर्थात् दोनों पक्षों में किसी भी प्रकार का विरोध न हो। सिद्धान्त वह पदार्थ है जिसके विषय में सामान्य अथवा विशेष रूप से जो कुछ कहा जाए उसे मान लेना या उसका प्रतिपादन करना। यह सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम सिद्धान्त भेद से चार प्रकार का होता है। इसी प्रकार अवयव पाँच वाक्यों का समूह है जिनके माध्यम से अपने से भिन्न लोगों को ज्ञान की प्राप्ति करायी जाती है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन- ये वे पाँच वाक्य हैं जिनके क्रमशः उपयोग के द्वारा हम अनुमान कर पाने में समर्थ हो पाते हैं।

28.8 शब्दावली

उभयनिष्ठ = दोनों में स्थित

जागतिक = सांसारिक

धर्मी = जिसमें धर्म रहता हो

परबोधनार्थ = दूसरों को समझाने के लिये

पारलौकिक = दूसरे लोक से सम्बन्ध रखने वाला

विप्रतिपत्ति = विरोध

विरुद्धकोटिक = विपरीत स्वरूप वाला

समाहित = युक्त, किसी में प्रविष्ट

स्थाणु = सूखा पेड़

स्वनिश्चितार्थ = अपने ज्ञान के लिये

28.9 बोध-प्रश्न

28.9.1 अतिलघूत्तरीय

1. प्रयोजन के दोनों भेदों के नाम लिखें।
2. न्यायसूत्रों में कितने पदार्थों की अवधारणा है?
3. अवयव के उदाहरण का उदाहरण दें।
4. स्वार्थानुमान में कितने अवयव माने जाते हैं?
5. दृष्ट प्रयोजन किसे कहते हैं?

28.9.2 लघूत्तरीय

1. संशय को सोदाहरण समझाएं।
2. दृष्टान्त एवं सर्वतन्त्र सिद्धान्त में भेद है।
3. प्रयोजन के भेदों को स्पष्ट करें।
4. अवयव का अभिप्राय क्या है?
5. अभ्युपगम सिद्धान्त को स्पष्ट करें।

6. वात्स्यायन ने परम न्याय किसे कहा है?

28.9.3 दीर्घोत्तरीय

1. सिद्धान्त के सारे भेदों को सोदाहरण समझाएं।
2. अवयवों की सार्थकता को स्पष्ट करें।

28.9.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

1. दृष्ट एवं अदृष्ट, 2. षोडश, 3. महानस, 4. तीन, 5. लोक में दिखने वाले प्रयोजन को, 6. पंचावयवात्मक वाक्य को

28.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, बलदेव, **आचार्य सायण और माधव**,चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण
2. उपाध्याय, बलदेव,**भारतीय दर्शन**,चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1967
3. चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद,**भारतीय दर्शन सरल परिचय** राजकमल प्रकाशन, 1965
4. झलकीकर, **न्यायकोश,** भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1997
5. झा, डॉ० वीणा,**शङ्कर का अद्वैत वेदान्त**, **बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी**, **पटना**
6. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ,**भारतीय दर्शन का इतिहास**,राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1988
7. द्विवेदी, डॉ० पारसनाथ, **भारतीय दर्शन**,श्रीराम मेहर एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक, आगरा
8. बन्दिष्टे, डॉ० डी०डी०,**भारतीय दार्शनिक निबन्ध**,मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983
9. भट्टाचार्य, डॉ० अभेदानन्द,**शांकर वेदान्त**, दुर्गा पब्लिकेशन, 1991
10. भारतीय, महेश, **भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ** इण्डो-विज़न प्रा. लि. गाजियाबाद, 1999
11. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, **प्रमाणमञ्जरी** VidyanidhiPrakashan, Khajoorikhas, Delhi – 110090, 2018
12. मिश्र, नयराम,**आदि शङ्कराचार्य जीवन और दर्शन**,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
13. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**तर्कसंग्रह तर्कदीपिकासहित तन्वी व्याख्या**ParimalPublication,Shakti Nagar, Delhi, 2013
14. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप**Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 1998

15. मिश्र, प्रो० हृदय नारायण, **अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन**,उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2011
16. शर्मा, डॉ० ऊर्मिला,**अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान** छन्दस्वती प्रतिष्ठान वाराणसी, 1978
17. शर्मा, चन्द्रधर,**भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन**,मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1990
18. शर्मा, राममूर्ति,**भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**,मणिद्वीप दिल्ली, 1999
19. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायदर्शनम्** वात्स्यायनभाष्यसहित,बौद्ध ग्रन्थमाला 11, बौद्धभारती वाराणसी, 1984
20. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायभाष्य**,सुधी न्थमाला 10, सुधी प्रकाशन 1986
21. शास्त्री, रामानन्द तिवारी, **भारतीय दर्शन की भूमिका**,नवयुग प्रेस, भरतपुर, 1958
22. शुक्ल, डॉ. दीनानाथ,**भारतीयदर्शन परिभाषा कोश**,प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण, 1983
23. सरस्वती, श्रीहरिहरानन्द, **वेदान्त विचार**,नारदघाट, वाराणसी
24. Mishra, Pankaj Kumar, **THE TARKABHASHA** of Keshav Mishra Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2005

इकाई 29 तर्क, निर्णय (1.1.40-41) वाद जल्प वितण्डा

29.0 उद्देश्य

इस पाठ के विषय को पढ़कर आप जान पाएंगे कि

- तर्क, निर्णय, वाद, जल्प एवं वितण्डा नामक पदार्थों का स्वरूप क्या है?
- तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में इन पदार्थों की क्या भूमिका होती है?
- इन पदार्थों में पारस्परिक भेद क्या हैं?
- वादपरम्परा में इन पदार्थों की भूमिका है?
- प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करने में जल्प या वितण्डा की भूमिका है भी या नहीं?

29.1 प्रस्तावना

वाद से युक्त विचार में छल औरजाति का प्रयोग तथा अपसिद्धान्त न्यून,अधिक और हेत्वाभास से अतिरिक्त निग्रह स्थानों का उद्भावन परित्याज्य माना गया है। इस विचार में सभा,मध्यस्थ एवं राजा या राजप्रतिनिधि की आवश्यकता नहीं होती। इसमें भाग लेनेवाले विद्वान् अविनीतवंचक,असूयावान् या दुराग्रही नहीं होते। शुद्ध न्याय से तत्वनिर्णय पर पहुँचना ही उसका लक्ष्य होता है। इसमें विचारकों के बीच जयपराजय की कोई भावना नहीं होती।

इसी दृष्टि से नैयायिकों ने षोडश पदार्थों की अवधारणा प्रस्तुत की। न्यायदर्शन के षोडश पदार्थों में प्रमाण एवं प्रमेय के अन्तर्गत हम तर्क, निर्णय, वाद, जल्प एवं वितण्डा का उल्लेख पाते हैं।

प्रस्तुत पाठ का यही प्रतिपाद्य भी है। इसके अन्तर्गत इसका क्रमश: विश्लेषण किया गया है। न्याय दर्शन यह प्रतिपादित करता है कि षोडश पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस दृष्टि से उक्त पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना भी यहाँ आवश्यक हो जाता है।

इस पाठ के अन्तर्गत इन्हीं पदार्थों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। वस्तुत: इस विशिष्ट दर्शन की वस्तुओं को देखने की दृष्टि अन्य वैदिक दर्शनों से भिन्न है। यह जागतिक वस्तुओं के विश्लेषण के अनन्तर पारलौकिक परम के प्राप्त होने के मार्ग को बताता है। इस ज्ञान प्राप्ति में प्राप्त होने वाले जल्प, वितण्डा सदृश विषयों का विश्लेषण करते हुए यह भी बताने का प्रयास करता है कि ऐसी समस्याओं का समाधान कैसे किया जा सकता है अथवा उनके क्या क्या मार्ग हो सकते हैं। एतदर्थ नैयायिक उक्त पांचों पदार्थों का विश्लेषण करते हैं।

आशा है इस पाठ में उक्त विषयों को समझते हुए आप भली-भाँति न्याय शास्त्र के लक्ष्य तथा अन्य विषयों से उनके सम्बन्ध को समझ पाएंगे।

29.2 तर्क

यह न्याय के पदार्थों में अष्टम पदार्थ है। वाद की दृष्टि से यदि सोचा जाए तो न केवल न्यायदर्शन में बल्कि प्राय: समस्त दर्शन में तर्क की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कदाचित् तर्क के कारण ही न्याय अन्य दर्शनों से भिन्न है। इस तर्क की महत्ता इसी से स्पष्ट समझी जा सकती है कि न्याय दर्शन के कई ग्रन्थों के नाम तर्क से ही प्रारम्भ होता है, यथा- तर्कभाषा, तर्कसंग्रह आदि।

किन्तु पदार्थ के रूप में यहाँ इसके स्वरूप को समझना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि नैयायिक तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं गिनते। क्योंकि यह स्वतः प्रमा के निश्चितार्थज्ञान का कारण नहीं होता। तर्क का काम यह है कि वह प्रतिपक्षी की कल्पना को निर्मूल कर देता है।

आचार्य गौतम ने न्यायसूत्र में तर्क की परिभाषा इस प्रकार की है- **अविज्ञाततत्वे अर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थम् ऊहः तर्क**:तदनुसार अज्ञात पदार्थ के स्वरूप को निश्चित करने के लिये कारण निर्देशपूर्वक किया जाने वाला ऊह अर्थात् मानसव्यापार विशेष तर्क होता है। यह तर्क विभिन्न सम्भावनाओं के मध्य एक निश्चायक ज्ञान के निर्णय के लिये प्रमाण का सहायक होता है।

अन्यत्र इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकारोपस्तर्क**:अर्थात् व्याप्य के आरोप के द्वारा व्यापक का आरोप करना तर्क है। (इससे पूर्व व्याप्य एवं व्यापक के विषय में आपने विस्तार पूर्वक जाना होगा विस्तारभय के कारण यहाँ इसकी व्याख्या नहीं की जा रही है।)

यहाँ इसे इस प्रकार समझाया जा रहा है- हमें दूर किसी पर्वत पर उठता हुआ धुआँ दिखायी पड़ा। उस उठते हुए धुएं को देखकर आप यह सोचते हैं कि **यद्यत्राग्न्यभावः स्यात् तर्हि धूमाभावः स्यात्**अर्थात्यदि यहाँ अग्नि का अभाव रहता तो धूम का भी अभाव होता। क्योंकि यह नियम है कि जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ-वहाँ धूम का भी अभाव होता है। इसलिये अग्न्यभाव और धूमाभाव में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। यहाँ अग्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक है। जैसे अग्नि का भाव व्याप्य तथा धुएं का भाव व्यापक होता है। इस दृष्टि से

यहाँ अग्न्यभाव (व्याप्य) के आरोपण से धूमाभाव (व्यापक) भी आरोपित हो जाता है। अर्थात् व्याप्य के आरोपण से व्यापक भी आरोपित हो जाता है जो सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसलिये व्याप्य का आरोपण (अन्यभाव) मिथ्या सिद्ध होता है।

तर्कभाषा में इसे अनिष्ट का प्रसंग कहा गया है- **तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः**। यह लक्षण अनिष्टप्रसंग शब्द के कारण अस्पष्ट सा प्रतीत होता है किन्तु इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-**स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेणअनिष्टव्यापक- प्रसञ्जनरूपः। यथा- यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत् इति। स चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः**। वह तर्क व्याप्ति युक्त दो धर्मों में व्याप्य को स्वीकार करने से अनिष्ट व्यापक की प्राप्ति होना रूप वाला ही है। जैसे- यदि यहाँ पर घट विद्यमान होता, तो वह भूतल के समान दिखायी भी देता।उल्लेखनीय है कि यह तर्क स्वयं में प्रमाण नहीं हैं, अपितु प्रमाणों का उपकार करने वाला (सहयोगी) होता है। जैसे- यह पर्वत अग्नि से युक्त अथवा अग्निरहित है। इस प्रकार सन्देह होने के बाद, यदि कोई स्वीकार कर ले कि यह पर्वत अग्नि रहित है। तब उस व्यक्ति के प्रति यदि यह अग्निरहित होता तो अग्नि का अभाव होने के कारण, धूमरहित भी होता, इस प्रकार धूमवान् दिखायी देने वाले पर्वत में अनिष्ट (जो इष्ट अर्थात् अभिप्रेत नहीं है की अर्थात् धूमराहित्य की प्रसक्ति की जाती है। यह अनिष्ट प्रसङ्ग ही **तर्क** कहलाता है।

ध्यातव्य है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन तर्क को प्रमाणरूप न मानकर प्रमाणों का उपकारक मानते हैं- **प्रमाणानुग्राहकस्तर्कः**। उनमें भी यह विशेषतः परार्थानुमान में अनुग्राहक होता है।

इस सन्दर्भ में यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि संशय तर्क से किस प्रकार भिन्न है? अनिश्चयात्मक होने के कारण तर्क एवं संशय को एक नहीं माना जा सकता। वह इस प्रकार कि संशय हमेशा उभयकोटिक ज्ञान होता है, जैसे 'स्थाणु वा पुरुषो वा' संशय के इस उदाहरण में किसी एक पक्ष (कोटि) में निर्णयात्मक स्थिति नहीं है, जबकि तर्क में ऐसा नहीं होता है, यहाँ तो तर्क किसी एक पक्ष में ही निश्चयात्मकता लिए होता है। इसीलिए अनुमान का उपकारक कहा गया है। इसी प्रकार निर्णय और तर्क में भी अन्तर है। वह यह कि निर्णय आपत्तिरूप नहीं होता जब कि तर्क आपत्तिरूप होता है।

29.3 निर्णय (1.1.41)

तर्क के पश्चात् निर्णय नामक नवम पदार्थ का विश्लेषण यहाँ किया जा रहा है। निर्णय निश्चयात्मक होता है। दूसरे शब्दों में दो या दो से अधिक संदिग्ध वस्तुओं के मध्य एक का निश्चय करना। संशय की स्थिति में या विचार विमर्श होने पर विभिन्न पक्षों को विश्लेषण कर जिस निश्चय पर पहुँचा जाता है,वह निर्णय कहलाता है।

गौतम कहते हैं कि किसी विषय को लेकर पक्ष एवं प्रतिपक्ष के परस्पर विरुद्ध कथन को सुनने से संदेह उत्पन्न होता है- **विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः**(न्या०सू० 1.1.41)। सन्देह होने के पश्चात् विचार तथा विचार करने के बाद दोनों मतों में से एक प्रामाणिक अथवा सत्य सिद्ध होता है तथा दूसरा अप्रामाणिक अर्थात् असत्य। इसी को निर्णय कहते हैं।

ध्यातव्य है कि दो परस्पर विरोधी पक्षों में एक पक्ष अवश्य ही सत्य अथवा असत्य होगा। एक के प्रतिषेध से दूसरे की स्थापना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार जिसको अस्वीकृत कर दिया गया है उस अस्वीकृत पक्ष का परित्याग और अबाधित पक्ष का ग्रहण कराना ही प्रमाणशास्त्र का

प्रयोजन है। जिस पक्ष की सिद्धि प्रमाण के द्वारा होती है, उसी का अवधारण वा निश्चितार्थज्ञान निर्णय कहलाता है। इस सन्दर्भ में भाष्यकार उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि **स्थापना साधनम्। प्रतिषेध उपालम्भः। तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि। यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः।**

अर्थात् जहाँ दोनों पक्ष समान रूप से विद्यमान रहते हैं,वहाँ निर्णय किस प्रकार किया जाता है- किसी विशेष पदार्थ के अवलम्बन से। इसके लिये एक उदाहरण से इसे यहाँ समझते हैं- हमें अँधेरे में यह संशय होता है कि दूर दिखायी पड़ने वाली वस्तु मनुष्य है अथवा स्थाणु (ठूँठ/सूखा वृक्ष)?अब इस संशय का निराकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक कोई विशेष चिह्न हमें न दिखलाई पड़े। यदि उसी के अनुरूप कोई चिह्न उसमें दिखाई पड़ जाता है तो हम शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते कि वह मनुष्य है अथवा स्थाणु। यहाँ निश्चायक वस्तु यथार्थ रूप में चिह्न विशेष का दर्शन है। यही निर्णय का साधन है। इसी के द्वारा निश्चितार्थ का अवधारण (ज्ञान) होकर संशय दूर हो जाता है। इस आधार पर निर्णय का लक्षण इस प्रकार भी किया जाता है- **निर्णयो विशेषदर्शनजमवधारणं संशयविरोधि**अर्थात् प्रमाणों के द्वारा अर्थ (पदार्थ) का अवधारण (निश्चय) ही निर्णय है। इसे ऐसा कहा जा सकता है कि निर्णय पर पहुँचने के लिये ही तर्क और प्रमाण का अवलम्बन किया जाता है।

वात्स्यायन कहते हैं कि **निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम्**। अर्थात् निर्णय रूपी तत्त्वज्ञान ही प्रमाणों का फल है। तदनुसार निश्चयात्मक ज्ञान ही निर्णय है। जब हम किसी भी वस्तु, व्यक्ति या सिद्धान्त आदि के विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा 'इदम् इत्थम्' इस रूप में अथवा 'अयम् घट:' इस प्रकार का निश्चित ज्ञान कर लेते हैं तो वही उस ज्ञान का निर्णय होता है। इसमें संशय, विपर्यय आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता है। इसीलिए भाष्यकार ने इसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों का फल अर्थात् परिणाम भी कहा है।निश्चयात्मक ज्ञान ही निर्णय है और यह प्रमाणों का फल होता है- **निर्णयोऽवधारणज्ञानम्। तच्च प्रमाणानां फलम्**।

उक्त विश्लेषण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि विवादास्पद विषयों का पर्यवसित ज्ञान भी निर्णय ही है।

29.4 वाद

न्यायशास्त्र के ज्ञातव्य विषयों मे वाद, जल्प और वितण्डा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन तीनों को वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में **कथा** शब्द से व्यवहृत किया है-**तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति** (न्यायभाष्य 1.2.1 सूत्र)।

यहाँ कथा का अर्थ है किसी विषय पर विद्वानों का वह पारस्परिक विचार जो वाद,जल्प और वितण्डा के रूप में उपलब्ध होता है। किन्तु कथा को इस सन्दर्भ में इस प्रकार समझा जा सकता है- किसी विषय के स्वरूप के निर्णय के लिये दो पक्षों के बीच प्रश्नोत्तररूप मे जो संवाद होता है, उसे कथा कहा जाता है। तदनुसार यह कथा तीन प्रकार की होती हैं- वाद,जल्प और वितण्डा।

इन्हीं में से प्रथम तथा न्याय के पदार्थों में दशम पदार्थ वाद है। तत्व निर्णय के उद्देश्य मात्र से किए जानेवाले विचार को वाद कहा जाता है। यह वाद या तो गुरु-शिष्य के मध्य होनेवाले

संवाद होते हैं या राग-द्वेषरहित दो व्यक्तियों के मध्य होता है।

गौतम ने वाद का यह लक्षण दिया है- **प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः**(न्या०सू०1.2.1)।

न्याय में होने वाले शास्त्रार्थ के सामान्यतया दो उद्देश्य देखे जा सकते हैं-

1. तत्वज्ञान का निर्णय तथा
2. सभा में विजय की प्राप्ति

यदि पहले उद्देश्य को लेकर शास्त्रार्थ किया जाता है,तो उसे वाद कहते हैं। इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों ज्ञान के भूखे (ज्ञानबुभुत्सु) होते हैं,विजय के इच्छुक (विजिगीषु) नहीं। वे जिज्ञासुभाव से (जानने की इच्छा से) विवाद में प्रवृत्त होते हैं, कुछ युयुत्सुभाव से (लड़ाई की इच्छा से) नहीं। यही कारण है कि यह वाद एकान्त में भी किया जा सकता है। इसके लिये सभा की कोई आवश्यकता नहीं।

इसे इस प्रकार भी समझ लेना चाहिए कि तत्त्वज्ञान के इच्छुक जो वादी एवं प्रतिवादी होते हैं, यहाँ उनकी संख्या दो से अधिक भी हो सकती है। उस स्थिति में यह पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष कहा जाता है। विचार विनिमय के लिए उनमें किया गया 'संवाद' ही यहाँ 'कथा' कही जाती है। इसके अधिकरण अर्थात् विषय क्षेत्र के रूप में इसकी संख्या आठ बताई गई है, जिसमें न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त तथा पाँचों हेत्वाभास असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक,प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट की गणना की गई है- **स चाष्टनिग्रहाणामधिकरणम्। तेन्यूनाधिकापसिद्धान्ताः हेत्वाभास इत्यष्टौ निग्रहाः**।

अन्यत्र तर्कभाषा में इस वाद को तत्त्वज्ञान के भूखे अर्थात् तत्त्व को वास्तविक रूप में जानने के इच्छुक की कथा वाद कहलाती है- **तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः।**

तात्पर्यटीकाकार ने वाद के तीन फलों का उल्लेख किया है-

1. अज्ञाततत्व का ज्ञान
2. संशय की निवृत्ति
3. शिष्य के द्वारा समझे गये अर्थ के सम्बन्ध में गुरु की स्वीकृति

इस प्रकार वाद की इस व्यवस्था को समझने के बाद अब जल्प, वितण्डा आदि का क्रमशः विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है-

29.5 जल्प

नैयायिकों की शास्त्रार्थ परम्परा में तत्वज्ञान अर्थात् निर्णय के लिए वाद तथा निर्णीत तत्व की रक्षा के लिए जल्प को प्रयोग में लाया जाता है। जल्प न्याय का ग्यारहवाँ पदार्थ है। प्रतिद्वन्द्वी पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से किए जानेवाले विचार को जल्प कहते हैं।

केवल जीतने की इच्छा से जो कथा की जाती है, उसे जल्प कहते हैं- **विजगीषुकथा जल्पः।** इस जल्प के अन्तर्गत वादी और प्रतिवादी दोनों का यही लक्ष्य रहता है कि येनकेन प्रकारेण अपने प्रतिद्वन्द्वी को किसी प्रकार से पराजित किया जाय। विपक्षी को दबाने के लिये सब तरह के उपायों का उपयोग किया जाता है। छल, जाति आदि अनुचित व्यवहारों का प्रयोग करते हुए

वादी एवं प्रतिवादी परस्पर नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं।

गौतम जल्प नामक इस पदार्थ की परिभाषा इस प्रकार करते हैं- **यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः**अर्थात् तर्क और प्रमाण के साथ-ही-साथ यदि छल, जाति और निग्रह स्थान से भी काम लिया जाय अर्थात् निषिद्ध होते हुए भी खण्डन-मण्डन किया जाय तो उसे **जल्प** कहते हैं।

जल्प का एकमात्र उद्देश्य होता है विजय की प्राप्ति। यही कारण है कि वादी या प्रतिवादी असत्पक्ष (मिथ्या कथन) को लेकर भी और अपने पक्ष की कमजोरी जानते हुए भी) केवल अपनी योग्यता और वाक् कौशल के बल पर उसे सिद्ध करना चाहता है। अन्त में,जिसमें अधिक प्रतिभा होती है यही विजय प्राप्त करता है।

दोनों पक्षों (पक्षप्रतिपक्षको सिद्ध करने वाली) में विजय के अभिलाषी लोगों की कथा ही जल्प है तथा वह यथासम्भव (प्रायः) सभी निग्रह स्थानों का अधिकरण होती है। प्रतिपक्षी का पक्ष खण्डित होने पर अपने पक्ष की स्थापना एवं प्रयोग में इसकी समाप्ति हो जाती है- **उभयसाधनवती विजिगीषु कथा जल्पः। सा च यथासम्भवंसर्वनिग्रहाणामधिकरणम्। परपक्षे दूषितेस्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानश्च।**

इस सन्दर्भ में भाष्यकार के विवेचन से ज्ञात होता है कि जल्प में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि और प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन किया जाता है, जब कि बाद में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग नहीं किया जाता।

29.6 वितण्डा (1.2.1-1.2.3)

न्याय का बारहवाँ पदार्थ वितण्डा है। नैयायिकों की समस्त वाद परम्परा में जल्प और वितण्डा तर्कवाद का परम है। वितण्डा करने वाले वस्तुत: अपने तर्कों के प्रभाव से प्रतिपक्षी को शक्तिहीन बनाने का प्रयास है। तदनुसार वादी या प्रतिवादी अपने मत को स्थापित किए बिना अथवा अपने लक्ष्य के समर्थन में बोले बिना केवल परपक्ष का खण्डन ही करे तो ऐसे जल्प को वितण्डाकहते हैं।

वितण्डा का लक्षण करते हुए गौतम कहते हैं कि **स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा** अर्थात् जिस जल्प में प्रतिपक्षी अपना पक्ष स्थापित नहीं करे(केवल दूसरे पक्ष का दूषण करे) वह वितण्डाहै।

वितण्डावादी छल, जाति आदि अनुचित उपायों का अवलम्बन तो करता ही है। किन्तु, इस क्रम में वह अपना प्रतिपक्ष या मत भी स्थापित नहीं करता है। उसका कार्य केवल ध्वंसात्मक होता है,रचनात्मक नहीं। वह प्रतिपक्ष के मत पर तो छलबल के साथ आक्रमण करता है। किन्तु अपना कोई मत स्थापित करता ही नहीं। वैतण्डिक एकपक्षीय पक्ष प्रस्तुत करता है,वह दूसरे का पक्ष को सुनने तक के लिये खड़ा नहीं होता। क्योंकि जब उसकी अपनी कोई प्रतिज्ञा ही नहीं है तब खण्डन किसका किया जायगा?

तर्कशास्त्र में जल्प और वितण्डावाद की प्रशंसा नहीं होता बल्कि हेय दृष्टि से देखा जाता है। क्योंकि यह अनर्गल प्रलापमात्र है,वाद की तरह यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं। किन्तु कभी कभी दुष्ट अथवा मूर्ख व्यक्ति से विवाद उत्पन्न होने पर इसकी भी आवश्यकता पड़ ही जाती है। जल्प

एवं वितण्डा के विरुद्ध उठने वाले इन विचारों के विरोध में आचार्य गौतम कहते हैं कि **तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थंकण्टकशास्त्रावरणवत्** अर्थात् जैसे कृषिक्षेत्र में फसल के रक्षणार्थ कृषक क्षेत्र के चतुर्दिक् काँटे से घेरा डाल देते हैं उसी प्रकार कुतर्कों से तत्त्व की रक्षा के लिये जल्प एवं वितण्डा का प्रयोग किया जाता है। वितण्डा वास्तव में प्रतिपक्षी के शब्द बयान से बचने के लिये कवच का कार्य करता है।

वह जल्प ही अपने पक्ष की स्थापना से रहित हुआ वितण्डा कहा जाता है और उसकी समाप्ति तो पर पक्ष (प्रतिपक्ष) के खण्डन मात्र से ही हो जाती है। वस्तुतः इस वैतण्डिक का स्थापना करने योग्य कोई अपना पक्ष नहीं होता है- **स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। सा च परपक्षदूषण मात्रपर्यवसाना। नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति।**यहाँ यह समझना जरूरी है कि यद्यपि कथा का निर्णय, वाद, जल्प तीनों ही प्रमेय पदार्थों में उपयोग होता है। इसलिए इस परिभाषा के वाद में प्रयोग करना चाहिए था, क्योंकि यहाँ भी वह जल्प ही जब अपने को स्थापित करने में असफल हो जाता है तो उसे 'वितण्डा' कहा जाता है। इस वैतण्डिक अर्थात् वितण्डा को प्रयोग में लाने वाले का वस्तुतः किसी भी पक्ष की स्थापना करना उद्देश्य नहीं होता है। इसकी समाप्ति परपक्ष के खण्डन मात्र से ही हो जाती है।

जल्प और वितण्डा का स्वभाव वाद से पर्याप्त भिन्न है। इन विचारों में भाग लेने वाले विद्वानों का उद्देश्य तत्वनिर्णय नहीं,अपितु जिस किसी प्रकार से अपने प्रतिद्वंद्वी को मूक बनाकर अपने आपको विजयी सिद्ध करना होता है। इसीलिए इन विचारों में छल और जाति के प्रयोग तथा सभी प्रकार के निग्रहस्थानों के उद्भावना की काट रहती है,साथ ही विचार के निर्विघ्न संचालन के लिए सभा,मध्यस्थ और राजकीय नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

वस्तुत: वाद, जल्प और वितण्डा तीन प्रकार की कथाएँ होती हैं। यहाँ अनेक वक्ता मिलकर किसी तत्त्व निर्णय अथवा जय पराजय के लिए पूर्व और उत्तर पक्ष के रूप में चर्चा या वार्तालाप अथवा संवाद करते हैं। इसी कथा में विजय के इच्छुक जनों की कथा को यहाँ जल्प संज्ञा प्रदान की है। इसमें जहाँ तक सम्भव होता है, सभी निग्रहस्थान अधिकरण होते हैं। साथ ही यहाँ पूर्वपक्ष की सिद्धि तथा प्रतिपक्ष का खण्डन होने पर ही इसकी समाप्ति अर्थात् अवसान हो जाता हैं।

29.7 सारांश

इस पाठ में पाँच प्रमेय पदार्थो (तर्क, निर्णय, वाद, जल्प और वितण्डा) का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया गया है। इन पदार्थो में **तर्क** का कार्य यह है कि वह प्रतिपक्षी की कल्पना को निर्मूल कर देता है। **निर्णय** निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इसका प्रयोग दो या दो से अधिक सन्दिग्ध वस्तुओं के मध्य एक का निश्चय करने के लिये किया जाता है। इसी क्रम में यह स्पष्ट किया गया कि तत्व निर्णय के उद्देश्य मात्र से किए जानेवाले विचार को **वाद** कहा जाता है। इस रूप में हम पाते हैं कि निर्णय जहाँ साध्य है वहीं वाद साधन बन जाता है। जल्प एवं वितण्डा सर्वथा विपरीत है। इनमें जल्प प्रतिद्वन्द्वी पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जानेवाला विचार है। जबकि वितण्डा केवल दूसरे पक्ष के मत का खण्डन करने के लिये किया जाता है।

जल्प और वितण्डा के उद्देश्य में ऐक्य होने पर भी उनकी प्रकृति में बहुत अन्तर है। जैसे जल्प में वादी और प्रतिवादी दोनों अपने अपने पक्ष का साधन और परपक्ष का खण्डन करते हैं,पर वितण्डा में केवल वादी ही अपने पक्ष के साधन का प्रयास करता है,प्रतिवादी वादी के पक्ष का

खण्डन करने में ही अपनी कृतार्थता मानकर अपने पक्ष की स्थापना तथा उसके साधन के प्रयास से विरत रहता है।

तत्व निर्णय के लिए वाद तथा निर्णीत तत्व की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा की उपयोगिता मानी जाती है।

29.8 शब्दावली

अनर्गल = बेसिर पैर की बात

असत्पक्ष = मिथ्या कथन, यथार्थ को न मानना

ऊह = मानसव्यापार या विशेष तर्क

चतुर्दिक् = चारों ओर

तत्त्वज्ञान = किसी भी जानने योग्य विषय का वास्तविक ज्ञान

प्रतिषेध = निषेध

प्रलाप = बड़बड़ाना

बुभुत्सु = खाने की चाह रखने वाला

युयुत्सु = युद्ध लड़ने की इच्छा करने वाला

वाक्कौशल = बोलने में कुशलता

विजिगीषु = जीतने की इच्छा करने वाला

विपर्यय = विपरीत ज्ञान

वैतण्डिक = वितण्डा करने वाला

हेय = छोड़े जाने योग्य, हीन, उपेक्षा के योग्य

29.9 बोध-प्रश्न

29.9.1 अतिलघूत्तरीय

1. भाष्यकार ने किसे प्रमाणों का फल कहा है?
2. भाष्यकार के अनुसार कथा के नाम लिखें।
3. तत्त्वबुभुत्सुकथा किसे कहते हैं?
4. तर्कभाषा में अनिष्ट प्रसंग किसे कहा गया है?
5. प्रमाणों का अनुग्राहक किसे कहा गया?

29.9.2 लघूत्तरीय

1. संशय किस प्रकार तर्क से भिन्न होता है?
2. तात्पर्यटीकाकार के अनुसार वाद के क्या क्या फल होते हैं?
3. जल्प एवं वितण्डा के भेद को स्पष्ट करें।

4. तत्त्वज्ञान में वितण्डा की अनुपयोगिता क्यों मानी जाती?
5. नैयायिकों की दृष्टि में कथा क्या है?

29.9.3 दीर्घोत्तरीय

1. **व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकारोपस्तर्कः**इस वाक्य के आधार पर तर्क का सविस्तर विश्लेषण करें।
2. जल्प की उपयोगिता एवं स्वरूप पर एक निबन्ध लिखें।
3. निर्णय नामक पदार्थ पर निबन्ध लिखें।

29.9.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

1. तर्क को, 2. वाद, जल्प एवं कथा, 3. वाद, 4. तर्क को, 5. तर्क को

29.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, बलदेव, **आचार्य सायण और माधव**,चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण
2. उपाध्याय, बलदेव,**भारतीय दर्शन**,चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1967
3. चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद,**भारतीय दर्शन सरल परिचय** राजकमल प्रकाशन, 1965
4. झलकीकर, **न्यायकोश**, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1997
5. झा, डॉ० वीणा,**शङ्कर का अद्वैत वेदान्त**, **बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी**, **पटना**
6. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ,**भारतीय दर्शन का इतिहास**,राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1988
7. द्विवेदी, डॉ० पारसनाथ, **भारतीय दर्शन**,श्रीराम मेहर एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक, आगरा
8. बन्दिष्टे, डॉ० डी०डी०,**भारतीय दार्शनिक निबन्ध**,मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983
9. भट्टाचार्य, डॉ० अभेदानन्द,**शांकर वेदान्त**, दुर्गा पब्लिकेशन, 1991
10. भारतीय, महेश, **भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ** इण्डो-विज़न प्रा. लि. गाजियाबाद, 1999
11. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, **प्रमाणमञ्जरी** VidyanidhiPrakashan, Khajoorikhas, Delhi – 110090, 2018
12. मिश्र, नयराम,**आदि शङ्कराचार्य जीवन और दर्शन**,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
13. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**तर्कसंग्रह तर्कदीपिकासहित तन्वी व्याख्या** ParimalPublication,Shakti Nagar, Delhi, 2013

14. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप** Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 1998
15. मिश्र, प्रो० हृदय नारायण, **अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन**,उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2011
16. शर्मा, डॉ० ऊर्मिला,**अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान**छन्दस्वती प्रतिष्ठान वाराणसी, 1978
17. शर्मा, चन्द्रधर,**भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन**,मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1990
18. शर्मा, राममूर्ति,**भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**,मणिद्वीप दिल्ली, 1999
19. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायदर्शनम्** वात्स्यायनभाष्यसहित,बौद्ध ग्रन्थमाला 11, बौद्धभारती वाराणसी, 1984
20. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायभाष्य**,सुधी न्थमाला 10, सुधी प्रकाशन 1986
21. शास्त्री, रामानन्द तिवारी, **भारतीय दर्शन की भूमिका**,नवयुग प्रेस, भरतपुर, 1958
22. शुक्ल, डॉ. दीनानाथ,**भारतीयदर्शन परिभाषा कोश**,प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण, 1983
23. सरस्वती, श्रीहरिहरानन्द, **वेदान्त विचार**,नारदघाट, वाराणसी
24. Mishra, Pankaj Kumar, **THE TARKABHASHA** of Keshav Mishra Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2005

इकाई 30 हेत्वाभास, छल (1.2.4-1.2.17) जाति और निग्रहस्थान (1.2.18-1.2.20)

30.0 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप जान पाएंगे कि-

- हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान का स्वरूप क्या है?
- इन पदार्थों की उपयोगिता क्या है?
- शास्त्रार्थ में इन पदार्थों का क्या महत्त्व है?
- छल का प्रयोग शास्त्रार्थ में नैतिक है या नहीं?
- क्या निग्रहस्थान ही शास्त्रार्थ का परिणाम है?

30.1 प्रस्तावना

न्यायदर्शन अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन तर्कों के आधार पर करता है। इसके लिये नैयायिकों ने षोडश पदार्थों का प्रवर्तन किया। इन्हीं में से अन्तिम चार पदार्थ हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान है। ये पदार्थ एक ओर जहाँ शास्त्रार्थ में सावधानियों को बताने की बात करते हैं तो दूसरी ओर विजय की ओर भी ले जाते हैं। न्याय के अनुमान प्रमाण की व्यवस्था भी हेत्वाभास पर आधारित है। इसलिए इन पदार्थों को जानना यहाँ आवश्यक हो जाता है। एक सामान्य विश्वास है कि न्याय को पढे बिना कोई पण्डित नहीं हो सकता।

इन पदार्थों के साथ ही षोडश पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही परम नि:श्रेयस की प्राप्ति सम्भव है– ऐसा गौतम का अभिमत है। इन पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से न्याय का ज्ञान हो जाता है तथा न्याय का ज्ञान हो जाने पर सभी शास्त्रों में सुगमतया प्रवेश हो जाता है।

आशा है इस पाठ में उक्त विषयों को समझते हुए आप भली-भाँति न्यायशास्त्र के लक्ष्य तथा अन्य विषयों से उनके सम्बन्ध को समझ पाएंगे।

30.2 हेत्वाभास

इससे पूर्व तर्क, निर्णय, वाद, जल्प और वितण्डा- इन पाँच प्रमेय पदार्थों का विवेचन करने के पश्चात् अब क्रम से प्राप्त हेत्वाभास का वर्णन करते हैं। यद्यपि अनुमान प्रकरण में इन हेत्वाभासों का विवेचन किया जा चुका है, पुनरपि यह विवेचन, पुनरुक्ति मात्र नहीं है, अपितु यहाँ कुछ नई विशेष ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया गया है।

हेत्वाभास का लक्षण न्यायसूत्र में प्राप्त नहीं होता। वात्स्यायन ने इस पर भाष्य करते हुए सर्वप्रथम इस हेत्वाभास की निरुक्ति देते हुए कहते हैं कि- **हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमाना:** अर्थात् जिसमें हेतु के लक्षण का अभाव हो, जो हेतु नहीं हो, हेतु सामान्य के कारण हेतु की तरह प्रतीत होता हो, वह हेत्वाभास कहलाता है। वस्तुत: यह हेत्वाभास हेतु न होकर हेतु की तरह प्रतीत होता है।

यहाँ हेतु एवं हेत्वाभास के स्वरूप को विस्तारपूर्वक समझना आवश्यक है। तदनुसार जिस पदार्थ में साध्य की व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति होती है उसे हेतु या लिंग कहा जाता है। उसके दो भेद होते हैं- सद्धेतु (निर्दुष्ट हेतु) और **हेत्वाभास** (दुष्ट हेतु)। सद्धेतु में निम्नलिखित पाँच रूप अवश्य होने चाहिए-

क. पक्षसत्व अर्थात् पक्ष में रहना

ख. सपक्षसत्व अर्थात् साध्य के निश्चित आश्रय में रहना

ग. विपक्षासत्व अर्थात् साध्याभाव के निश्चित आश्रय में न रहना

घ. अबाधितत्व अर्थात् पक्ष में साध्य का बाधित न होना तथा

ङ. असत्प्रतिपक्षत्व अर्थात् पक्ष में साध्याभाव के साधनार्थ अन्य हेतु के ज्ञान या प्रयोग का न होना

यहाँ उक्त पाँचों के रूपों से सम्पन्न होना केवल अन्वयव्यतिरेकी सद्धेतु के लिए ही आवश्यक है। केवलान्वयी सद्धेतु के लिए विपक्षासत्व से अतिरिक्त चार रूपों से ही सम्पन्न होना अपेक्षित

होता है।

जिसके ज्ञान से अनुमिति उसके कारणभूत व्याप्तिज्ञान या पक्षधर्मताज्ञान का प्रतिबन्ध होता है उसे, हेतुगत दोष अर्थ में, हेत्वाभास कहा जाता है और ये दोष जिन हेतुओं में होते हैं उन्हें दुष्ट हेतु अर्थ में हेत्वाभास कहा जाता है।

न्याय सूत्र में हेत्वाभास का उद्देश प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार हेत्वाभास पाँच हैं- सव्यभिचार,विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत। यहाँ क्रमश: हेत्वाभास के इन प्रकारों का विश्लेषण किया जा रहा है-

30.2.1 सव्यभिचार

जब हेतु व्यवस्थित नहीं होता है, उसमें नियमात्मक व्यवस्था नहीं रहती तब उसे व्यभिचारी कहा जाता है। इस प्रकार जो व्यभिचार से युक्त हेतु हो वह सव्यभिचार होता है। सूत्रकार ने इस हेत्वाभास का नाम सव्यभिचार कहते हुए अनैकान्तिक कहा है- **अनैकान्तिकः सव्यभिचारः**(1.2.5)। इस प्रकार इसकी नियमात्मक व्यवस्था नहीं होने के कारण इसे सव्यभिचार कहा गया।

इसी क्रम में व्यभिचार को भी समझ लेते हैं। जिस हेतु में सपक्ष और विपक्ष दोनों सम्भव हैं। उसकी सपक्ष में स्थिति (वृत्ति) तथा विपक्ष में व्यावृत्ति (अभाव) होना ही नियम होता है, क्योंकि तभी वह हेतु साध्य का अनुमान कराने में सहायक होता है। अतः साध्य के अभाव से व्याप्त न होने वाले उस हेतु का उस प्रकार के नियम से युक्त न होना ही व्यभिचार अर्थात् नियम का उल्लंघन है-**सम्भवत्सपक्षविपक्षस्य हेतोः सपक्षवृत्तित्वे सति विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव नियमो गमकत्वात्। तस्य च साध्यविपरीतताव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः।**

इसके साथ ही अनैकान्तिक को भी जान लेते हैं। यथार्थ हेतु एकान्तिक होता है। दूसरे शब्दों में, वह हमेशा साध्य के साथ होता है। अनेकान्त का अर्थ होता है वस्तु का कई स्थलों पर होना। अब इस सव्यभिचार को उदाहरण से समझते हैं- हमें सिद्ध करना है कि यह गाय है, क्योंकि इसके सींग हैं। यहाँ सींग एवं गाय का अनैकान्तिक सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सींग भिन्न पशुओं के भी होते। इस प्रकार सींग एवं गाय में एकान्तिक या निश्चयात्मक सम्बन्ध नहीं होने के कारण इसे सव्यभिचार हेत्वाभास कहा जाता है।

अन्यत्र साध्य के संशय का हेतु अनैकान्तिक अथवा सव्यभिचार हेत्वाभास होता है- **साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार इति**।

30.2.2 विरुद्ध

सव्यभिचार नामक हेत्वाभास के बाद सूत्रकार विरुद्ध नामक हेत्वाभास का निर्देश देते हैं। न्यायसूत्र के अनुसार हेतु जब स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध होता है, तब वह विरुद्ध कहलाता है- **सिद्धान्तम् अभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः**। जैसे त्रैलोक्य नित्य है, नित्यता का प्रतिषेध होने के कारण। यहाँ प्रथमत: प्रतिज्ञा में त्रैलोक्य की नित्यता को स्वीकार किया गए, पुन: हेतु के द्वारा उसका विरोध कर दिया गया इसलिए यहाँ विरोध नामक हेत्वाभास है।

अन्यत्र तर्कभाषा में साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु ही 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास है-। **साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः**। जैसे- 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह कार्य से उत्पन्न होता है।

यहाँ शब्द में नित्यत्व साध्य है तथा कृतकत्व का हेतु रूप में प्रयोग हुआ है, जबकि यह कृतकत्व हेतु उस नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व से व्याप्त है, क्योंकि जो जो कार्य से उत्पन्न होता है, वह वह तो अनित्य ही होता है। इसलिए यहाँ कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण हुआ, क्योंकि वह साध्य के अभाव से व्याप्त है- यथा **शब्दो नित्यः कृतकत्वात् इति। अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः। तद्विपर्ययेण चानित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं यतो यद्यत् कृतकतत्तत् खल्वनित्यमेव। अतःसाध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं तुविरुद्धः।**

यह हेत्वाभास प्रतिज्ञा विरोधी होता है। वार्तिककार ने इसका लक्षण ही यही दिया है कि हेतु जब प्रतिज्ञा का विरोधी होता है तो उसे विरुद्ध हेत्वाभास माना जाता है।

30.2.3 प्रकरणसम

विरुद्ध हेत्वाभास के बाद सूत्रकार कार सत्प्रतिपक्ष अथवा प्रकरण समनामक हेत्वाभास का कथन करते हैं।

संशयकाल से लेकर निर्णय होने के पूर्व तक होने वाली जिज्ञासा जिस हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होती है उसे प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं। इसी हेत्वाभास का नाम परवर्ती न्याय ग्रन्थ में सत्प्रतिपक्ष कहा गया है। इसलिए गौतम कहते हैं कि **यस्मात् प्रकरणचिन्ता सः निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः** (1.8.7) अर्थात् जिसको लेकर प्रकरण का होना सम्भव है, उसी को हेतु मानना प्रकरणसम हेत्वाभास है। इसका उदाहरण इस प्रकार है- शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की अनुपलब्धि होने के कारण। इस पक्ष वाक्य का प्रतिपक्ष वाक्य इस प्रकार हो सकता है- शब्द अनित्य है नित्य धर्म की अनुपलब्धि होने के कारण।

भाष्यकार ने प्रकरण शब्द का अर्थ सन्देहास्पद-अनवसित-प्रतिपक्ष लिया है। अर्थात् जिस हेतु से ऐसे पक्ष एवं प्रतिपक्ष की प्राप्ति हो जिनमें साध्य धर्म का निर्णय न हो प रहा हो अपितु सन्देह ही हो रहा हो प्रकरणसम हेत्वाभास होता है।

इसी प्रकार केशवमिश्र इस हेत्वाभास को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि**यस्यप्रतिपक्षभूतंहेत्वन्तरंविद्यतेसप्रकरणसमः।सएवसत्प्रतिपक्षइतिचोच्यते' ।तद्यथा 'शब्दोऽनित्योनित्यधर्मानुपलब्धेः'शब्दोनित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' इति।अत्र' 'साध्यविपरीतसाधक' समानबलमनुमानान्तरंप्रतिपक्षइत्युच्यते।यःपुनरतुल्यबलोनसप्रतिपक्षः** अर्थात् जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक प्रतिपक्ष के रूप में दूसरा हेतु विद्यमान होता है वह प्रकरणसम है और वही सत् प्रतिपक्ष भी कहा जाता है।

जैसे- 'शब्द अनित्य होता है, क्योंकि इसमें नित्य के धर्म का अभाव होता है। और 'शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्य के धर्म की उपलब्धि नहीं होती है। यहाँ साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला अनुमान है, जो प्रतिपक्ष कहलाता है। किन्तु अन्य अनुमान जो तुल्य बल वाला नहीं होता है, वह प्रतिपक्ष नहीं होता।

न्यायसाहित्य में प्रकरणसम के स्थान पर सत्प्रतिपक्ष को लाने का श्रेय वाचस्पति मिश्र को है जो सत्प्रतिपक्षत्व को ही प्रकरणसम का प्रवृत्ति निमित्त मानते हैं- **प्रकरणसमपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तु सत्प्रतिपक्षत्वम्।**

30.2.4 साध्यसम

प्रकरणसम नामक तृतीय हेत्वाभास का विवेचन करने के बाद आचार्य गौतम साध्यसम नामक चतुर्थ हेत्वाभास को प्रस्तुत करते हैं।

साध्य के समान ही जिस हेतु के भी सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ जाए उसे साध्यसम कहा जाता है। यहाँ हेतु साध्य के ही समान सिद्ध किए जाने योग्य होता है न कि पहले से ही सिद्ध रहता है। इसीलिए इस हेत्वाभास को असिद्ध भी कहते हैं। गौतम के अनुसार- **साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः**(1.2.8) जो हेतु स्वयं साध्य की कोटि में आता हो वह हेत्वाभास साध्यसम कहलाता है। भाष्यकार ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है- छाया द्रव्य होती है, गमनशील होने के कारण। यहाँ छाया की द्रव्यता साध्य है। किन्तु गमनशीलता जो की साधन है वही सिद्ध नहीं है बल्कि स्वयं साध्य बन रहा। ध्यातव्य है कि छाया में गति नहीं होती।

साध्यसम को असिद्ध कहने का प्रथम श्रेय वार्तिककार को जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम इसके तीन भेद भी माने- प्रज्ञापनीयसमानधर्म, आश्रयासिद्ध तथा अन्यथासिद्ध।

30.2.5 कालातीत

गौतम के द्वारा निर्दिष्ट यह पञ्चम एवं अन्तिम हेत्वाभास है। जिस हेतु में काल (समय) का उल्लंघन पाया जाता है, कालातीत हेत्वाभास कहलाता है। गौतम ने इसका लक्षण देते हुए कहा है- **कालात्ययापदिष्टः कालातीतः** अर्थात् साधनकाल का अत्यय (बीत जाने पर) जो अपदिष्ट (प्रयुक्त) हो उसे कालातीत कहते हैं। जैसे- शब्द नित्य है, संयोग से अभिव्यक्त होने के कारण, जैसे दीपक के प्रकाश से घट प्रकाशित होता है।

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि यह अनुभव से सिद्ध है कि गहन अन्धकार में जिस दीपक के प्रकाश का संयोग घट से होता है उस समय घट दिखायी देता है। प्रकाश के संयोग से घट उत्पन्न नहीं होता, घट पहले से ही विद्यमान होता है। इसी प्रकार भेरी और दण्ड का जैसे ही संयोग होता है, पहले से विद्यमान शब्द अभिव्यक्त हो पड़ता है। संयोग से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती।

उदाहरण देने वाले का यह कथन तर्कसंगत नहीं। क्योंकि प्रकाशक दीपक तथा प्रकाश्य घट में एककालता रहती है जैसा कि अनुभवसिद्ध है, किन्तु भेरीदण्ड संयोग और शब्द की प्रकाश्यता के बारे में एककालता न होकर कालिक अन्तर आता है। संयोग हो चुकने पर अर्थात् संयोग हो जाने के बाद शब्द सुना जाता है इसलिए इसे कालातीत हेत्वाभास कहते हैं।

परवर्ती न्यायसाहित्य मे इसको इस प्रकार से परिभाषित किया गया है- प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वारा, जिस हेतु के साध्य का अभाव पक्ष में निश्चित कर लिया जाता है (परिच्छिन्न) वह कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभास होता है। वही बाधित विषय हेत्वाभास भी कहलाता है जैसे अग्नि शीतल है, क्योंकि वह कार्य होता है, जैसे- जल यहाँ कृतकत्व (कार्य होना) हेतु है तथा उसके साध्य अनुष्णत्व के अभाव को प्रत्यक्ष द्वारा ही निश्चित कर लिया गया है, क्योंकि स्पार्शन इन्द्रिय के द्वारा हमें अग्नि की उष्णता का ज्ञान हो ही जाता है- **यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन पक्षे साध्याभावः परिच्छिन्नः स कालात्ययापदिष्टः। स एव बाधितविषय इत्युच्यते।यथा- अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्र कृतकत्वं हेतुः। तस्य च यत् साध्यमनुष्णत्वं तस्याभावः प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः।**

त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात्।(तर्कभाषा)

इसी प्रकार कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास का दूसरा उदाहरण यह है- जैसे पट की क्षणिकता को सिद्ध करने हेतु पूर्व में कहा गया सत्त्व हेतु है तथा उसका भी साध्य जो क्षणिकत्व है, उसका भी अभाव अक्षणिकत्व प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित ही है, क्योंकि यह तो वही घट है, जिसे मैंने पूर्व में देखा था। इस प्रकार के पूर्व अनुभव से उत्पन्न होने वाले संस्कार के सहयोग से हमारी इन्द्रिय द्वारा होने वाली, पूर्व और अपर काल के एकत्व को एक साथ ग्रहण करने वाली प्रत्यभिज्ञा द्वारा ही घट की स्थिति (स्थायित्व) का हमें निश्चय होता है- **तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टो यथा, घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्त्वं हेतुः। तस्यापि च यत् साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं, प्रत्यभिज्ञालक्षणप्रत्यक्षेण' परिच्छिन्नम्। स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः इति, प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनित संस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालावगाहिन्या घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति**।

इस प्रकार सव्यभिचार आदि ये पाँचों हेत्वाभास अहेतु ही होते हैं और अपने साध्य को सिद्ध नहीं करते हैं, क्योंकि ये हेतु के पक्षधर्मता आदि पाँच रूपों में से किसी एक रूप से रहित होते हैं।

इन हेत्वाभासों का विस्तृत विवेचन करने के बाद न्यायशास्त्र के चौदहवें पदार्थ छल का कथन करते हैं-

30.3 छल

यह विषय भी न्यायशास्त्र के प्रमुख विषयों में से एक है। प्रतिवादी के छलपूर्वक आक्रमण से अपने पक्ष की रक्षा के लिए छल का ज्ञान आवश्यक है। वादी के पक्ष का खण्डन करने के लिए उसके वचन में उसके अनभिमत अर्थ की कल्पना को छल कहा जाता है।

न्याय सूत्रकार ने इसका इस प्रकार लक्षण दिया है-**वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्**(1.2.10)।वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को छोड़कर,अर्थान्तर का आरोप करते हुए,वचन-विघात करना (बात काटना) छलकहलाता है।

इसे इस प्रकार समझ जा सकता है कि हमने कोई बात कही। हमारी उस बात का वास्तविक अर्थ न लेकर कोई भिन्न अर्थ ले लिया जो हमारा कहने का अभिप्राय नहीं है। तत्पश्चात् उस भिन्न अर्थ से लोगों के सामने हमारे कथन का आप खण्डन करने लगे तो ऐसा करने को छलकहते हैं। महाभारत का प्रसिद्ध प्रसंग **अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा** इसी छल के अन्तर्गत आता है। तर्कसङ्ग्रहकार अन्नम्भट्ट ने भी कुछ इसी प्रकार से इस छल का लक्षण अपनी दीपिकाटीका में प्रवर्तित किया है- **अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम्**।

सूत्रकार इस छल के तीन प्रकार के कहते हैं- वाक्छल, सामान्य छल तथा उपचार छल-**तत् त्रिविधम् - वाक्छलम् सामान्यच्छलम् उपचारच्छलम् च इति** (1.2.11)। इन तीनों का विश्लेषण अग्रांकित है-

30.3.1 वाक् छल

एक ही शब्द के कई भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। जब वक्ता किसी शब्द का प्रयोग करता है,तब

उसके मन में एक विशेष अर्थ पर लक्ष्य रहता है। उस अर्थ को विवक्षितया अभिप्रेत अर्थ कहते हैं। श्रोता को उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यदि कोई श्रोता केवल खण्डन करने की दृष्टि या किसी अभिप्राय विशेष से वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का अनर्थ कर दे तो वह वाक्छल कहलाता है। न्यायसूत्रकार ने इस भाव को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है- **अविशेषाभिहितेऽर्थवक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्**(1.2.12)।

इसी को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त किए गए शब्द का अर्थ स्वीकार करके दोष का कथन करना ही छल होता है- **अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्।यथा नवकम्बलोऽयं माणवकः इति वाक्ये नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्य नवशब्दस्यार्थान्तरमाशङ्क्य कश्चित् दूषयति 'नास्य नवकम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात्। न ह्यस्य द्वयमपि सम्भाव्यते कुतो नव इति। स च वादी छलवादितया ज्ञायते।** अर्थात् यह माणवक नव (नए) कम्बल वाला है, इस वाक्य में नवीन के अभिप्राय से प्रयोग किए गए नव शब्द का अन्य नौ संख्या मानकर कोई व्यक्ति दोष प्रदर्शन करता हैदरिद्रता के कारण इसके पास नौ कम्बल नहीं हैं अथवा आप तो इसके नौ कम्बलों की बात कर रहे हैं, इसके पास तो दो की भी सम्भावना नहीं है।

इस प्रकार अन्य दोष युक्त कल्पना करने के कारण यह वादी छलवादी केरूप में जाना जाता है।

30.3.2 सामान्य छल

किसी कथन के विपरीत अर्थ के अतिरिक्त अतिसामान्य अर्थ को लेकर असम्भव बतलाना सामान्य छल माना जाता है। गौतम ने इसके स्वरूप को इस प्रकार प्रदर्शित किया है- **सम्भवतोऽर्थस्य अतिसामान्ययोगात् असम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्**(1.2.13)अर्थात् सम्भावित अर्थ को छोड़कर, असम्भव अर्थ की कल्पना करते हुए दोष निदर्शन करना सामान्य छल है। इसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि यह ब्राह्मण विद्या और आचरण दोनों से सम्पन्न है- इस कथन पर छल करने वाले का यह कथन कि यदि ब्राह्मण का यही लक्षण है कि वह विद्या और आचरण से सम्पन्न होता है तो व्रात्य को भी विद्या और आचरण से युक्त होना चाहिए, सामान्य छल है।

इस सन्दर्भ में भाष्यकार ने विवक्षित अर्थ को स्वीकार करने के साथ-साथ अविवक्षित अर्थ को भी स्वीकार करने के का कारण इस छल को सामान्य छल माना है।

इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जान-बूझकर भी, यदि कथन का खण्डन करने के लिये, असम्भूत अर्थ की उद्भावना की जाए, तो वह सामान्य छल होगा।

30.3.3 उपचार छल

जिस अभिप्राय को लेकर (कथन में) शब्द का प्रयोग किया गया हो उस अभिप्राय को छोड़कर एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग किया जाना उपचार छल कहा जाता है- **धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्**(1.2.14)। भाष्यकार ने उपचार का अर्थ इस प्रकार किया है- **उपचारो नीतोऽर्थः**। इसका अभिप्राय यह है कि वक्ता के अभिप्राय को त्याग कर अपनी ओर से नीत-कल्पित अर्थ का प्रयोग ही उपचार होता है और जिस छल में नीतार्थ होता है वह उपचार छल कहा जाता है। जैसे- मञ्चा: क्रोशन्ति, यहाँ इसका अभिप्रेत अर्थ है कि मञ्च पर बैठे लोग चिल्लाते हैं, किन्तु यहाँ इस अर्थ का परित्याग कर मञ्च

चिल्लाते हैं ऐसा अर्थ पकड़ लिया जाता है। इसलिए यहाँ उपचार छल है। ध्यातव्य है कि मञ्च के निर्जीव होने से चिल्लाने की क्रिया उससे नहीं हो सकती।

वक्ता के अभिप्राय के अनुसार ही शब्द का मुख्य एवं गौण अर्थ लेना चाहिए।

भाष्यकार छल का ज्ञान आवश्यक मानते हैं क्योंकि छल का ज्ञान हो जाने पर ही कोई व्यक्ति अपने वाक्यों को छल से बचाकर दूसरे के वाक्यों में उसका प्रयोग कर सकता है।

इस क्रम में वाक्छल एवं उपचारच्छल को लेकर पूर्वपक्षियों ने यह सन्देह उत्पन्न किया है कि ये दोनों अभिन्न है पृथक् नहीं-**वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्** (1.2.15)। किन्तु यह कहना उचित नहीं ऐसा गौतम का मत है-**न तत् अर्थान्तरभावात्** (1.2.16)। क्योंकि वाक्छल एवं उपचार छल में अन्तर है।

उपचार छल के प्रयोग से वस्तु का प्रतिषेध होता है, जैसे- मञ्चाः क्रोशन्ति में मञ्च के अभिधेयार्थ का निषेध हो रहा है। किन्तु वाक्छल में किसी का प्रतिषेध न होकर एक देश-धर्म का प्रतिषेध होता है। जैसे ऊपर के उदाहरण नवकम्बल में नव के नवीनता का प्रतिषेध। यहाँ सूत्रकार का यह मानना है कि **अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यात् एकच्छलप्रसङ्गः** (1.2.17)। अर्थात् कुछ समानता दिखायी पड़ने के कारण ही दोनों में एक होने की समानता दिखलायी पड़ती है। वास्तव में तो, उपचारच्छल में धर्मी का प्रतिषेध होता है जबकि वाक्छल में धर्म का प्रतिषेध होता है।

इस छल नामक पदार्थ के पश्चात् जाति नामक पन्द्रहवें पदार्थ की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है-

30.4 जाति

किसी अनुमान के खण्डन करने के लिये उदाहरण के साधर्म्य एवं वैधर्म्य मात्र के सहारे न कि व्याप्ति पर आधारित जो असमर्थ हेतु प्रयुक्त होता है उसे जाति कहा जाता है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्त की पुष्टि में किसी प्रकार के हेतु का प्रयोग करता है और प्रतिपक्षी उसके मत का खण्डन करने के लिये ऐसे हेतुओं का प्रयोग करता है जो व्याप्ति पर आश्रित न होकर केवल समानधर्मता एवं विषमधर्मता पर निर्भर रहते हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें जाति कहा जाता है।

गौतम ने इसका विश्लेषण इस प्रकार किया है- **साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः**(1.2.18) अर्थात्केवल साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (विभिन्नता) के आधार पर जो प्रत्यवस्थान (दोष निरूपण) किया जाय उसे जाति कहते हैं। दूसरे शब्दों में व्याप्ति-सम्बन्धस्थापित किये बिना केवल सादृश्य और वैधर्म्य के बल पर जो खण्डन किया जाता है,वह जाति कहलाता है।

स्वयं जाति के प्रयोग से बचने के लिए तथा प्रतिवादी द्वारा जाति का प्रयोग होने पर उसका असदुत्तरत्व घोषित करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए जाति का ज्ञान आवश्यक है।

सरल शब्दों में यदि कहा जाए तो अनुचित् (असत्) उत्तर ही जाति होता है- **असदुत्तरं जातिः**।

जाति के द्वारा जो प्रतिषेध (दूषण या खण्डन) किया जाता है, उसके चौबीस भेद गौतम ने गिनाये हैं। यहाँ प्रत्येक का नामउदाहरण दिया जा रहा है। तद्यथा- **साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्प**

त्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः(5.1.1)।

इस प्रकार जाति के चौबीस भेद निम्नांकित हैं-साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसम, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टांतसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा और कार्यसमा।

उत्कर्षसम और अपकर्षसम आदि भेदों से जाति यद्यपि अनेक प्रकार का होता है, किन्तु विस्तारभय से यहाँ उन सभी का कथन नहीं किया जा रहा है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि भाष्यकार ने जाति को प्रतिषेधहेतु कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि जाति एक प्रकार का हेतु है जिसके द्वारा पूर्ववक्ता के स्थापनावाक्य का खण्डन करने का प्रयास किया जाता है किन्तु उससे खण्डन नहीं हो पाता।

उसके बाद न्यायसूत्र में उल्लिखित सोलहवें अन्तिम पदार्थ की व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

30.5 निग्रहस्थान

निग्रहस्थान वादी एवं प्रतिवादी की उस परिस्थिति को कहते हैं जिसके कारण वादी अथवा प्रतिवादी को बोलने से रोक दिया जाता है। निग्रहस्थान का अर्थइस प्रकार समझा जा सकता है- **निग्रहस्य पराजयस्य स्थानम्** अर्थात् पराजय का स्थान। शास्त्रार्थ में जो जो अवस्थाएँ पराजय की सूचक है उन्हें निग्रहस्थानकहते हैं।

गौतम निग्रहस्थानकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं-**विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्**अर्थात् अपने पक्ष का प्रतिपादन अनुचित रूप से,नियम के विरुद्ध,करना (विप्रतिपत्ति),अथवा अपने पक्ष का प्रतिपादन नहीं कर सकना (अप्रतिपत्ति) निग्रहस्थानकहलाता है। इसे हम इस तरह समझ सकते हैं कि प्रतिवादीने आपके पक्ष में जो दोष दिखलाये हैं उनका उद्धार आप नहीं कर सकते अथवा उसके प्रतिपादित पक्ष का खण्डन नहीं कर सकते तो आप निग्रहस्थान में चले जाते हैं (अर्थात् पराजित समझे जाते हैं)।

अपने आपको निग्रहस्थान में पड़ने से बचाने के लिए तथा प्रतिवादी के निग्रहस्थान में पहुँचने पर निग्रहस्थान का निर्देश कर प्रतिवादी को निगृहीत करने की अर्हता प्राप्त करने के लिए निग्रहस्थान का ज्ञान आवश्यक है।

इसके बाईस भेद हैं- प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास।

तर्कभाषाकार तथा तर्कदीपिकाकार अत्यन्त सरल भाषा मे इसके लक्षण का प्रतिपादन क्रमश: इस प्रकार करते है- **पराजयहेतुर्निग्रहस्थानम्** तथा **वादिनोपजयहेतुर्निग्रहस्थानम्**। अर्थात् वादी की पराजय का कारण ही 'निग्रहस्थान' कहलाता है।

यह निग्रहस्थान न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा तथा विरोध आदि भेदों से यों तो अनेक प्रकार का होता है, किन्तु विस्तार के भय से यहाँ उन सभी भेदों का कथन नहीं किया जा रहा है।

30.6 सारांश

यह पाठ न्याय के अन्तिम चार पदार्थों की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। इन चारों पदार्थों- हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान के माध्यम से शास्त्रार्थ की समस्त व्यवस्था को अपने पक्ष में किया जा सकता है।

इन पदार्थों में हेत्वाभास के विषय में आपने यह जाना कि यह हेतु न होकर हेतु की तरह प्रतीत होता है तथा ये सामान्यत: पाँच प्रकार के हैं- सव्यभिचार,विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत। इन हेत्वाभासों के स्वरूप को समझकर विपक्षियों के प्रहार से बच जा सकता है। इसके बाद छल का उल्लेख किया गया है। छल वस्तुत: विपक्षियों को अपनी जाल में बाँधने का एक प्रयास है। इसमें उस बात का वास्तविक अर्थ न लेकर कोई भिन्न अर्थ ले लिया जाता जो वक्ता के कहने का अभिप्राय नहीं होता।

इसके पश्चात् जाति एवं निग्रहस्थान को हमने समझा। इनमें जाति एक प्रकार का हेतु है जिसके द्वारा पूर्ववक्ता के स्थापनावाक्य का खण्डन करने का प्रयास किया जाता है किन्तु उससे खण्डन नहीं हो पाता। इससे यह स्पष्ट होता है कि बाद वाला वक्ता पराजय के निकट है। इसके साथ ही निग्रहस्थान वादी के पराजय का कारण माना जाता है। निग्रहस्थान वादी एवं प्रतिवादी की उस परिस्थिति को कहते हैं जिसके कारण वादी अथवा प्रतिवादी को बोलने से रोक दिया जाता है।

इस प्रकार संक्षिप्तत: आपने इस पाठ को जाना। इसे पढ़कर आप न्याय विद्या में प्रवेश कर सकते हैं ऐसा मेरा विश्वास है।

30.7 शब्दावली

अनभिमत = अस्वीकृत

अनुपलब्धि = ज्ञान की प्राप्ति नहीं होना

अभिप्राय = जो बताना चाहता हो

अविवक्षित = जो नहीं कहा गया

एककालता = एक ही समय में होना

एकान्तिक = वस्तु का एक स्थल पर होना

नियमात्मक = नियम से युक्त होना

प्रकाश्यता = प्रकाश के योग्य

प्रतिषेध = निषेध, रोकना

माणवक = बालक

वचन-विघात = बात काटना

व्रात्य = वर्ण धर्म का पालन न करने वाला

साध्य = जिसकी सिद्धि की जानी है

30.8 बोध-प्रश्न

30.8.1 अतिलघूत्तरीय

1. न्यायसाहित्य में प्रकरणसम के स्थान पर सत्प्रतिपक्ष को लाने का श्रेय किसको है?
2. भाष्यकार ने प्रकरण शब्द का क्या अर्थ लिया है?
3. न्यायसूत्र के अनुसार जाति के कितने भेद हैं?
4. पराजयहेतु: निग्रहस्थान का यह लक्षण किसने दिया है?
5. कालातीत हेत्वाभास का एक अन्य नाम क्या है?

30.8.2 लघूत्तरीय

1. वाक्छल एवं उपचार छल के अन्तर को स्पष्ट करें।
2. हेत्वाभास के अर्थ को स्पष्ट करें।
3. शास्त्रार्थ में निग्रहस्थान का क्या महत्त्व है?
4. जाति को प्रतिषेधहेतु क्यों कहा गया?

30.8.3 दीर्घोत्तरीय

1. न्यायसूत्र में प्रवर्तित हेत्वाभास एवं उनके भेदों को सोदाहरण समझाएं।
2. शास्त्रार्थ में छल की उपयोगिता को समझाते हुए उसके ऊपर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।
3. जाति एवं निग्रहस्थान में अन्तर को स्पष्ट करते हुए दोनों के भेदों का परिगणन करें।

30.8.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

1. आचार्य वाचस्पति मिश्र, 2. सन्देहास्पद-अनवासित-प्रतिपक्ष, 3. चौबीस, 4. तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने, 5. बाधित अथवा कालात्ययापदिष्ट।

30.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, बलदेव, **आचार्य सायण और माधव**,चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण
2. उपाध्याय, बलदेव,**भारतीय दर्शन**,चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1967
3. चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद,**भारतीय दर्शन सरल परिचय** राजकमल प्रकाशन, 1965
4. झलकीकर, **न्यायकोश**, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1997
5. झा, डॉ० वीणा,**शङ्कर का अद्वैत वेदान्त**, **बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी**, **पटना**
6. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ,**भारतीय दर्शन का इतिहास**,राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1988
7. द्विवेदी, डॉ० पारसनाथ, **भारतीय दर्शन**,श्रीराम मेहर एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक, आगरा

8. बन्दिष्टे, डॉ० डी०डी०,**भारतीय दार्शनिक निबन्ध**,मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983
9. भट्टाचार्य, डॉ० अभेदानन्द,**शांकर वेदान्त,** दुर्गा पब्लिकेशन, 1991
10. भारतीय, महेश, **भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ** इण्डो-विज़न प्रा. लि. गाजियाबाद, 1999
11. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, **प्रमाणमञ्जरी** VidyanidhiPrakashan, Khajoorikhas, Delhi – 110090, 2018
12. मिश्र, नयराम,**आदि शङ्कराचार्य जीवन और दर्शन**,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
13. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**तर्कसंग्रह तर्कदीपिकासहित तन्वी व्याख्या**ParimalPublication,Shakti Nagar, Delhi, 2013
14. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप**Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 1998
15. मिश्र, प्रो० हृदय नारायण, **अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन**,उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2011
16. शर्मा, डॉ० ऊर्मिला,**अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान** छन्दस्वती प्रतिष्ठान वाराणसी, 1978
17. शर्मा, चन्द्रधर,**भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन**,मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1990
18. शर्मा, राममूर्ति,**भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**,मणिद्वीप दिल्ली, 1999
19. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायदर्शनम्** वात्स्यायनभाष्यसहित,बौद्ध ग्रन्थमाला 11, बौद्धभारती वाराणसी, 1984
20. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायभाष्य**,सुधी न्थमाला 10, सुधी प्रकाशन 1986
21. शास्त्री, रामानन्द तिवारी, **भारतीय दर्शन की भूमिका**,नवयुग प्रेस, भरतपुर, 1958
22. शुक्ल, डॉ. दीनानाथ,**भारतीयदर्शन परिभाषा कोश**,प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण, 1983
23. सरस्वती, श्रीहरिहरानन्द, **वेदान्त विचार**,नारदघाट, वाराणसी
24. Mishra, Pankaj Kumar, **THE TARKABHASHA** of Keshav Mishra Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2005